

मुँड़वा ले। इसके साथ ही दाढ़ी, मूँछ व नख भी कटवा लेना चाहिए। काँख और उपस्थि के बालों को कभी न कटाना चाहिए। क्षौर कर्म के पश्चात् स्नान अवश्य करना चाहिए। उसके पश्चात् सायंकालीन वेला में ब्रह्म सन्ध्या करके एक सहस्र गायत्री का जप करे। तदुपरान्त ब्रह्मयज्ञ करके स्वतन्त्र रूप से अग्नि की स्थापना करे। इसके बाद अपनी शाखा का उपसंहार करके उसमें कहे हुए के अनुसार आज्य भाग पर्यन्त घृत की आहुति समर्पित करे। यज्ञ पूर्ण विधान से करने के पश्चात् तीन ग्रास सत्रू का प्राशन करे। फिर आचमन द्वारा मुख शुद्ध करके अग्नि रक्षा हेतु उसमें ईंधन आदि रखकर स्वयं अग्नि से उत्तर की ओर काले मृगचर्म पर प्रतिष्ठित हो जाए तथा पौराणिक कथाएँ श्रवण करते हुए रात्रि भर जागरण करे। रात्रि के चतुर्थ प्रहर के अन्त में स्नान आदि से निवृत्त होकर के पूर्व वर्णित अग्नि में चरु (खीर) पकाये। तत्पश्चात् 'पुरुषसूक्त' के सोलह मन्त्रों से उस चरु (खीर) की सोलह आहुतियाँ अग्नि में समर्पित करे तथा विरजाहोम करके आचमन एवं दक्षिणा सहित वस्त्राभूषण, सुवर्ण, गौ एवं पात्र आदि का दान करे और इस तरह समस्त विधि-विधान पूरा करे। इसके उपरान्त ब्रह्मा का विसर्जन करके उपर्युक्त वर्णित इन दो मन्त्रों - १. सं मा सिज्वन्तु ..... करोतु मा ॥ २. या ते अग्ने ..... सक्षय एहि ॥ द्वारा अग्नि के अधिदैविक स्वरूप को अपनी अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित कर लें। मन्त्रार्थ इस प्रकार है- १. 'मरुदग्ण, इन्द्र, बृहस्पति एवं अग्निदेव-ये समस्त देवगण मुझ पर कल्याण का सिज्वन करें। हे अग्निदेव! आप मुझे आयु ज्ञानरूपी धन एवं साधन आदि की शक्ति से सम्पन्न बनाएँ और मुझे दीर्घायुष्य भी प्रदान करें।

२. हे अग्निदेव! आपका जो यज्ञीय अर्थात् यज्ञों में प्रकट होने वाला स्वरूप है, उसी रूप में आप यहाँ उपस्थित होने की कृपा करें तथा हमारे लिए बहुत से मानवोपयोगी विशुद्ध धन-सम्पत्ति का विकास करते हुए आत्मरूप से हमारी आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाएँ। आप यज्ञरूप होकर के अपने कारण रूप यज्ञ में स्थित हो जाएँ। हे जातवेदा! आप पृथिवी से प्रकट होकर अपने धाम के सहित यहाँ प्रतिष्ठित हों।'

तदुपरान्त अग्निदेव का ध्यान करके प्रदक्षिणा एवं नमस्कार सहित अग्निशाला में उस(अग्नि)का विसर्जन कर दे। इसके बाद प्रातः एवं सायंकालीन वेला की संध्या करके एक सहस्रबार गायत्री महामन्त्र का जप एवं सूर्योपस्थान करे। तदनन्तर नाभि प्रदेश तक जल में जाकर उसमें बैठ कर आठ दिक्पालों को अर्च्य प्रदान करे। फिर माँ जगज्जननी को विसर्जित करके सावित्री देवी से व्याहतियों में प्रविष्ट होने की निम्न मन्त्रों से प्रार्थना करे। १. अहं वृक्षस्य ..... त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्।' अर्थ-'मैं विश्व वृक्ष का उच्छेदक हूँ। मेरा यश गिरि शिखर के सदृश ऊँचा है। अन्नोत्पादक सूर्य में व्यास अमृत के सदृश मैं भी अत्यन्त पवित्र अमृत स्वरूप हूँ। मैं तेजोयुक्त सम्पदावान् उत्तम मेधा से युक्त एवं अमृत से अभिषिक्त हूँ-यह त्रिशङ्कु ऋषि की ज्ञान-अनुभव से युक्त वाणी है।' २. 'यश्छन्दसामृषभो..... भूयासम्।' अर्थ-'जो वेदों में सर्वश्रेष्ठ कहे गये हैं, सर्वरूप हैं। जिनका वेदों से विशेष रूप से प्राकट्य हुआ है, वे इन्द्रदेव मुझे मेधा सम्पन्न बनाएँ। हे देव! मैं अमृत स्वरूप परमात्मा को धारण करने वाला बनूँ।'

३. 'शरीरं मे..... श्रुतं मे गोपाय'। अर्थ-'मेरा शरीर स्फूर्तियुक्त हो। मेरी जिहा मधुरभाषणी हो। मेरे कान श्रेष्ठ वाणी सुनने वाले हों। आप मेधा से युक्त ब्रह्मा के सदृश हैं। मेरे द्वारा सुनी गई वाणियाँ विस्मृत न हों।'

४. 'दारेषणायाश्च ..... सुवः सन्यस्तं मया।' अर्थ-'मैं पती की कामना, धन सम्पदा की कामना और लोक में ख्याति की कामना से ऊपर उठ गया हूँ। मैंने भू लोक का संन्यास (पूरी तरह से परित्याग) कर दिया है। मैंने भूः(पृथिवी), भुवः(अन्तरिक्ष) और सुवः(स्वर्ग) इन तीनों लोकों(के वैभव आदि)का पूर्णतया परित्याग कर दिया है।'

प्रार्थना के मन्त्रों का मन्द, मध्यम और उच्च स्वर से वाणी के द्वारा या फिर मन ही मन उच्चारण करके तथा पुनः "अभयं ..... प्रवर्तते स्वाहा" - इस मन्त्र से (जिसका मन्त्रार्थ इस प्रकार है- मेरी ओर से समस्त तथा पुनः "अभयं ..... प्रवर्तते स्वाहा" - इस मन्त्र से (जिसका मन्त्रार्थ इस प्रकार है- मेरी ओर से समस्त

प्राणियों को अभयदान प्रदान किया गया है, मुझमें ही सबकी प्रवृत्ति होती है।) जल का आचमन करके पूर्व दिशा की ओर पूरी अञ्जलि भरकर जल डालकर 'ॐ स्वाहा' कहकर शेष बचे हुए शिखा के बालों को उखाड़ डाले। इसके पश्चात् अगले मन्त्र "यह यज्ञोपवीत परम पवित्र है। यह पूर्वकाल में प्रजापति भगवान् ब्रह्मा जी के साथ ही प्रादुर्भूत हुआ है। यह सर्वश्रेष्ठ एवं आयुष्य की वृद्धि करने वाला है। यज्ञोपवीत को बाहर न रखना चाहिए। हे यज्ञमय सूत्र! आप मेरे अन्तः में प्रविष्ट होकर आत्मा के साथ निरन्तर एकाकार होकर रहें। आप परम पवित्र हैं। मुझे सुयश, बल, ज्ञान, वैराग्य एवं धारण शक्ति प्रदान करें।"(यह मन्त्र पढ़कर) यज्ञोपवीत को तोड़ डाले और जलाञ्जलि के साथ उसे हाथ में लेकर 'ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहा'—इस मन्त्र के द्वारा जल में हवन (विसर्जन) कर दे। तदनन्तर 'ॐ भूः संन्यस्तं मया' 'ॐ भुवः संन्यस्तं मया' 'ॐ सुवः संन्यस्तं मया'—इस प्रकार तीन बार इस मन्त्र को पढ़कर तीन बार जल को अभिमन्त्रित करके उसका आचमन करे। इसके बाद 'ॐ भूः स्वाहा' कहता हुआ वस्त्र एवं कटि सूत्र को भी जल में समर्पित कर दे। तत्पश्चात् इस बात को याद करते हुए कि मैं समस्त कर्मों का त्यागी हूँ, दिगम्बर (वस्त्र रहित) होकर अपने आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए ऊपर की ओर बाँह उठाये हुए उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर जाए॥ ३७॥

**पूर्ववद्विद्वत्संन्यासी चेद्गुरोः सकाशात्प्रणवमहावाक्योपदेशं प्राप्य यथासुखं विहरन्मत्तः कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इति फलपत्रोदकाहारः पर्वतवनदेवतालयेषु संचरेत्संन्यस्याथ दिगम्बरः सकलसञ्चारकः सर्वदानन्दस्वानुभवैकपूर्णहृदयः कर्मातिदूरलाभः प्राणायामपरायणः फलर-सत्वकपत्रमूलोदकैर्मोक्षार्थी गिरिकन्दरेषु विसृजेदेहं स्मरंस्तारकम्॥ ३८॥**

यदि पूर्व की भाँति विद्वान्-संन्यासी हो, तो वह गुरु से ॐकार एवं महावाक्यों का उपदेश ग्रहण करके, मेरे से भिन्न और दूसरा कोई नहीं है, इस निश्चय दृष्टिकोण के साथ आनन्दपूर्वक भ्रमण करता रहे। पत्र, पुष्ट, फल एवं जल का ही आहार ग्रहण करे। पर्वत, वन एवं देवालयों में ही विचरण करता हुआ निवास करे। संन्यास के पश्चात् यदि वह दिगम्बर (वस्त्र रहित) हो गया हो, तो वह अपने हृदय कमल में स्थित सदैव आनन्द-स्वरूप आत्मा की ही अनुभूति को भरकर, कर्मों के द्वारा अत्यधिक दूर रहने में ही लाभ मानता हुआ, प्राणायाम का अभ्यास करता हुआ (फल-फूलों के) रस, छिलके, पत्ते, मूल (जड़) तथा जल के माध्यम से प्राण तत्त्व को धारण करे एवं मात्र मोक्ष की ही इच्छा रखकर पर्वत की गुफाओं में रहकर तारक मन्त्र (अथवा परब्रह्म) का सतत्र जप एवं चिन्तन करते हुए अपने शरीर का परित्याग कर दे॥ ३८॥

**विविदिषासंन्यासी चेच्छतपथं गत्वाचार्यादिभिर्विप्रैस्तिष्ठ तिष्ठ महाभाग दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं गृहाण प्रणवमहावाक्यग्रहणार्थं गुरुनिकटमागच्छेत्याचार्यैर्दण्डकटिसूत्रकौपीनं शाटीमेकां कमण्डलुं पादादिमस्तकप्रमाणमव्रणं समं सौम्यमकालपृष्ठं सलक्षणं वैणवं दण्डमेकमाचमनपूर्वकं सखा मा गोपायौजः सखायोऽसीन्द्रस्य वज्ञोऽसि वार्त्रघः शर्म मे भव यत्पापं तत्त्विवारयेति दण्डं परिग्रहेज्जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति प्रणवपूर्वकं कमण्डलुं परिगृह्य कौपीनाधारं कटिसूत्रमोमिति गुह्याच्छादकं कौपीनमोमिति शीतवातोष्णीत्राणकरं देहकरक्षणमोमिति कटिसूत्रकौपीनबस्त्रमाचमनपूर्वकं योगपद्माभिषिक्तो भूत्वा कृतार्थोऽहमिति मत्वा स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युपनिषत्॥ ३९॥**

‘यदि ज्ञान को प्राप्त करने की आकांक्षा से परिव्राजक (संन्यास) धर्म का वरण किया हो, तो वह सौ कदम आगे की ओर चलने के पश्चात् आचार्य आदि गुरुजनों-ब्राह्मणों के द्वारा यों कहकर बुलाये जाने पर कि

‘हे महाभाग ! रुको, रुको; यह ब्रह्मदण्ड, वस्त्र एवं कमण्डलु धारण करो। तुम्हें ॐकार एवं महावाक्य का उपदेश स्वीकार (ग्रहण) करने के लिए गुरु के समीप आ जाना चाहिए। गुरु के समीप आ जाने के पश्चात् गुरुजनों एवं आचार्यों द्वारा प्रदान किये जाने पर ही दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, एक शाटी (चादर) तथा एक कमण्डलु अपने पास धारण करे। दण्ड बाँस का ही हो। उसकी ऊँचाई पैरों से लेकर सिर तक ही होनी चाहिए। वह खरोंच अथवा छेद से रहित, बराबर, चिकना तथा श्रेष्ठ लक्षणों से सम्पन्न हो। उस दण्ड का रंग काला न हो। इन सभी वस्तुओं को ग्रहण करने से पूर्व आचमन आदि कृत्य पूर्ण कर ले, तत्पश्चात् निर्धारित मन्त्र- ‘सखा मा गोपायौजः .....तत्त्विवारय।’ (अर्थात्- ‘हे दण्ड ! आप मेरे सखा अर्थात् प्राण शक्ति की रक्षा करें। आप ही मेरे सखा हैं, जो इन्द्र के हाथ में वज्र के रूप में रहते हैं। आपने ही वज्ररूप से आहत करके वृत्रासुर का विनाश किया है। आप हमारे लिए कल्याण रूप बनें। हमारे अन्दर जो भी पाप हों, उनका शमन करें।’ का उच्चारण करके दण्ड को हाथ में धारण करे, तदनन्तर ‘जगज्जीवनं .....सर्वसौम्य’ मन्त्र के साथ ॐकार का उच्चारण करते हुए कमण्डलु को धारण करे। तदुपरान्त ‘कौपीनाधारं कटिसूत्रमोम्’ ऐसा कहकर कटिसूत्र धारण करे। ‘गुह्याच्छादकं कौपीनमोम्’, यह कहकर कौपीन (लँगोटी) धारण करे और ‘शीतवातोष्ण त्राणकरं देहैक रक्षणमोम्’ इस मन्त्र का उच्चारण करने के पश्चात् ही वस्त्र धारण करे। इसके बाद पुनः आचमन करके योगपट्टाभिषिक्त हो ‘मैं कृतार्थ हो गया,’ ऐसा मानता हुआ अपने आश्रम के उचित सदाचार के पालन में संलग्न हो जाए। ऐसी ही है यह उपनिषद्॥ ३९ ॥

## ॥ पञ्चमोपदेशः ॥

अथ हैनं पितामहं नारदः पप्रच्छ भगवन्स्वर्वकर्मनिवर्तकः संन्यास इति त्वयैवोक्तः पुनः स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युच्यते। ततः पितामह उवाच। शरीरस्य देहिनो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति-तुरीयावस्थाः सन्ति। तदधीनाः कर्मज्ञानवैराग्यप्रवर्तकाः पुरुषा जन्तवस्तदनुकूलाचाराः सन्ति। तथैव चेद्गगवन्संन्यासाः कतिभेदास्तदनुष्ठानभेदाः कीदृशास्तत्त्वतोऽस्माकं वक्तुमर्हसीति। तथेत्यङ्गीकृत्य तं पितामहेन॥ १॥

( संन्यास एवं संन्यासी के प्रकार और संन्यास धर्म तथा उसके पालन का महत्त्व )

इसके पश्चात् भगवान् ब्रह्माजी से देवर्षि नारद ने पूछा- ‘हे भगवन् ! आप ने ही कहा है कि संन्यास आश्रम समस्त कर्मों का निवृत्तिकारक है; पुनः यह भी कहते हैं कि संन्यासी अपने आश्रमोचित आचार-विचार के पालन में संलग्न हो जाएँ। इस विषय में समाधान करने की कृपा करें। तदनन्तर ब्रह्मा जी ने कहा- ‘हे नारद ! शरीर में प्रतिष्ठित देहधारी प्राणी की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय-ये चार अवस्थाएँ होती हैं। इन्हीं अवस्थाओं के अधीन रहकर पुरुष कर्म, ज्ञान तथा वैराग्य के प्रवर्तक होते हैं। सभी प्राणी इन्हीं चारों अवस्थाओं के अधीन रहकर जब-जब जिस अवस्था में स्थित होते हैं, उसी के अनुकूल रहते हुए आचरण करते हैं। संन्यासी ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ के द्वारा आवश्यक रूप से सेवनीय तथा श्रौत-स्मार्त कर्मों का ही संन्यासी अपने आश्रमोचित सदाचार के पालन में संलग्न हो जाए। ऐसा सुनकर नारद जी ने कहा- ‘हे भगवन् ! आप अब कुपा करके यथार्थ रूप से संन्यास के कितने प्रकार हैं तथा उनके अनुष्ठान में क्या अन्तर है, बतलाएँ ?॥ १॥

संन्यासभेदाचारभेदः कथमिति चेत्तत्त्वतस्त्वेक एव संन्यासः अज्ञानेनाशक्तिवशात्कर्मलोपतश्च त्रैविध्यमेत्य वैराग्यसंन्यासो ज्ञानसंन्यासो ज्ञानवैराग्यसंन्यासः कर्मसंन्यासश्चेति

चातुर्विध्यमुपागतः ॥ २ ॥ तद्यथेति दुष्टमदनाभावाच्चेति विषयवैतृष्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्मव-  
शात्पंन्यस्तः स वैराग्यसन्न्यासी ॥ ३ ॥ शास्त्रज्ञानात्पाप पुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतः  
क्रोधेष्वासूयाहङ्काराभिमानात्मकसर्वसंसारं निर्वृत्य दोषेणाथनेषणालोकेषणात्मकदेहवासनां  
शास्त्रवासनां लोकवासनां त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रकृतीयं सर्वमिदं हेयं मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो  
यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसन्न्यासी ॥ ४ ॥ क्रमेण सर्वमध्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां  
स्वरूपानुसंधानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसन्न्यासी ॥ ५ ॥  
ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्यभावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति  
स कर्मसन्न्यासी ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्येण संन्यस्य सन्न्यासाजातरूपधरो वैराग्यसन्न्यासी । विद्वत्सन्न्यासी  
ज्ञानसन्न्यासी विविदिषासन्न्यासी कर्मसन्न्यासी ॥ ७ ॥

ब्रह्माजी ने कहा- ‘हे नारद ! सन्न्यास के भेद से आचरण के भेद में क्या अन्तर पड़ता है, यह मैं तुम्हें  
बतलाता हूँ; श्रवण करो । वास्तव में सन्न्यास एक ही प्रकार का है; किन्तु ज्ञानरहित होने के कारण, असमर्थतावश  
तथा कर्मलोप के कारण तीन भेदों में बँटकर वैराग्य-सन्न्यास, ज्ञान-सन्न्यास, ज्ञान-वैराग्य-सन्न्यास तथा कर्म-  
सन्न्यास’ इन चार भेदों को प्राप्त होता है । जो मन में दूषित भावनाओं का अभाव होने पर विषय वासनाओं में  
आसक्त न होकर पूर्व जन्म के पुण्य कर्म के प्रभाव से सन्न्यास ग्रहण कर लेता है, वह वैराग्य सन्न्यासी कहलाता  
है । जो मनुष्य शास्त्रों की जानकारी प्राप्त करने से तथा पापरूप और पुण्यरूप लोकों का अनुभव तथा श्रवण  
करने के कारण प्रपञ्चादि से स्वभावतः विरक्त हो गया है; क्रोध, ईर्ष्या, असूया (दृष्टिदोष), अहंकार तथा  
अभिमान ही जिसके प्रत्यक्ष स्वरूप हैं, ऐसे इस सम्पूर्ण जगत् को अपने मन से रहित करके, स्त्री कामना, धन  
कामना तथा लोक में प्रसिद्धि की कामना आदि त्रिविध रूपों वाली दैहिक-वासना, शास्त्र-वासना एवं लोक-  
वासना का परित्याग कर देता है और जैसे सामान्यजन वमन किए हुए भोजन को त्याज्य समझते हैं, वैसे ही इन  
सभी तरह के भोगों को त्याज्य मानते हुए जो व्यक्ति साधन-चतुष्टय से युक्त हो, वही सन्न्यास ग्रहण करता है,  
वही ज्ञान सन्न्यासी कहलाने का अधिकारी होता है । जो मनुष्य क्रमानुसार (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि  
का) अभ्यास करता हुआ, सभी कुछ अनुभव में लाकर के ज्ञान तथा वैराग्य के द्वारा निरन्तर अपने ही स्वरूप-  
मात्र का ध्यान करता हुआ जातरूपधर (बालकवत् निश्छल) हो जाता है, वही ज्ञान-वैराग्य-सन्न्यासी कहलाता  
है । जो ब्रह्मचर्य धर्म को पूर्ण करके गृहस्थ होकर एवं गृहस्थ से वानप्रस्थ-धर्म में प्रविष्ट हो करके पूर्ण वैराग्य  
न होने पर भी आश्रम-क्रमानुसार सबसे बाद में जो सन्न्यास ग्रहण करता है, वही कर्म-सन्न्यासी है अथवा  
ब्रह्मचर्य के पश्चात् ही सन्न्यास ग्रहण कर सन्न्यास-धर्म से जो जातरूपधर हो जाता है, वही वैराग्य सन्न्यासी  
कहलाता है । विद्वान् सन्न्यासी ही ज्ञान सन्न्यासी है और विविदिषा सन्न्यासी ही कर्म सन्न्यासी बतलाया गया है ॥

**कर्मसन्न्यासोऽपि द्विविधः निमित्तसन्न्यासोऽनिमित्तसन्न्यासश्चेति । निमित्तस्त्वातुरः ।**  
अनिमित्तः क्रमसन्न्यासः । आतुरः सर्वकर्मलोपः प्राणस्योत्क्रमणकालसन्न्यासः सनिमित्त-  
सन्न्यासः । दृढ़ज्ञो भूत्वा सर्वं कृतकं नश्वरमिति देहादिकं सर्वं हेयं प्राप्य ॥ ८-९ ॥ हंसः  
शुचिषद्वसुन्तरिक्षसद्गोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृष्टद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋष्टजा  
अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ १० ॥

“कर्म सन्न्यास के भी दो भेद होते हैं-प्रथम निमित्त सन्न्यास तथा द्वितीय अनिमित्त सन्न्यास । आतुर-  
सन्न्यास ही निमित्त सन्न्यास कहा जाता है तथा क्रम-सन्न्यास को अनिमित्त सन्न्यास कहते हैं । रोगादि के कारण

जिसमें समस्त कर्म लुप्त हो जाते हैं, अर्थात् जिसमें नित्य-नैमित्तिक आदि कोई भी कर्म निर्मित नहीं हो सकते एवं जो प्राण के परित्याग करने के समय ग्रहण किया जाता है, ऐसा वह संन्यास ही निर्मित संन्यास कहा गया है, इसे ही आतुर-संन्यास भी कहते हैं। शरीर के बलवान् होने पर जो विचार द्वारा यह दृढ़-निश्चय करके कि प्रादुर्भूत होने वाली सम्पूर्ण वस्तुएँ नाशवान् हैं और इसी तरह से शरीर को भी त्याज्य मान लेता है “वह परमात्मा आकाश में विचरण करने वाला हंस (सूर्य) है, वही अन्तरिक्ष में स्वेच्छापूर्वक विचरण करने वाला वसु है। वही होता तथा यज्ञ-वेदी पर प्रतिष्ठित रहने वाला अग्नि रूप है। सदगृहस्थों के भवनों में आतिथ्यरूप में आत्रय प्राप्त करने वाला भी वही है। पुरुषों में उसकी ही सत्ता सर्वश्रेष्ठ है। अत्यधिक श्रेष्ठ एवं अनुपम वस्तुओं में उसका ही अस्तित्व है। शाश्वत सत्य में उसी का निवास है। आकाश में वही सत्य रूप है! वही जल से प्रादुर्भूत होता है। वही गौ अर्थात् पृथ्वी एवं वाणी से उत्पन्न होने वाला है। सत्य से भी उसी का प्राकट्य होता है। वही पर्वतों से उत्पन्न होकर इन सभी से भिन्न एवं अति विलक्षण एक मात्र महान् सत्य है” ॥८-१०॥

**ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं नश्वरमिति निश्चित्याथो क्रमेण यः संन्यस्यति स संन्यासोऽनिर्मित्त-संन्यासः ॥ ११ ॥** संन्यासः षड्ग्रीवधो भवति। कुटीचको बहूदको हंसः परमहंसः तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति ॥ १२ ॥ कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्रेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः। बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी ॥ १३ ॥ हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥ १४ ॥ परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेष्वेकरात्रान्नादनपरः करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैष्णवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्भूलनपरः सर्वत्यागी ॥१५॥

(इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र के भावार्थानुसार) जो केवल परब्रह्म परमात्मा को ही सत्य-स्वरूप जानता है तथा ब्रह्म से अलग और सभी कुछ नाशवान् है, ऐसा दृढ़-निश्चय करता हुआ क्रमशः संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होता है। उसका यही संन्यास अनिर्मित संन्यास कहलाता है। संन्यासी के छह भेद इस प्रकार कहे गये हैं- १. कुटीचक, २. बहूदक, ३. हंस, ४. परमहंस, ५. तुरीयातीत, तथा ६. अवधूत। कुटीचक संन्यासी शिखा एवं सूत्र (यज्ञोपवीत) से सम्पन्न होता है। वह दण्ड, कमण्डलु, कौपीन एवं कन्था (कथरी) को धारण करता है। माता, पिता तथा गुरु की सेवा में निरन्तर लगा रहता है। पात्र, खनती (मिट्टी खोदने वाला) तथा झोली आदि को सतत अपने साथ रखता है और मन्त्रादि की साधना में सदैव तत्परतापूर्वक लगा रहता है। एक ही स्थान पर भोजन करता है, श्रेत ऊर्ध्वपुण्ड्र (ऊर्ध्वमुख तिलक) धारण करता तथा त्रिदण्ड को भी धारण किये रहता है। बहूदक भी कुटीचक की तरह से शिखा (चोटी) यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, कौपीन (लॅंगोटी) और कन्था (कथरी) को धारण करता है। मस्तक में त्रिपुण्ड्र धारण किये रहता है। सभी के प्रति समान भाव रखने वाला होता है और मधुकरी वृत्ति से विभिन्न गृहों से अन्न प्राप्त करके मात्र आठ ग्रास भोजन ही ग्रहण करता है। हंस नाम वाला संन्यासी जटा-जूट धारण करने वाला होता है, त्रिपुण्ड्र एवं ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है, अनिश्चित गृहों से मधुकरी (भिक्षा) लाकर भोजन करने वाला तथा कौपीन खण्ड एवं तुम्बी धारण करने वाला होता है। यह संन्यासी पाँच घरों से अन्न परमहंस नामक संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत को धारण नहीं करता है। यह संन्यासी पाँच घरों से अन्न प्राप्त (भोजन) प्राप्त करके केवल एक रात ही भोजन करता है अर्थात् दूसरे दिन दूसरे अन्य पाँच घरों से अन्न प्राप्त करता है। एक कौपीन, एक ओढ़ने का वस्त्र तथा एक बाँस का दण्ड अपने पास में रखता है। यह संन्यासी या

तो एक चादर अपने शरीर में सदैव ओढ़कर रहता है अथवा सम्पूर्ण अंगों में भस्म धारण किये रहता है, परमहंस सर्वत्यागी होता है ॥ ११-१५ ॥

**तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी । अन्नाहारी चेदगृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥ १६ ॥ अवधूतस्त्वनियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्व-जगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः ॥ १७ ॥**

तुरीयातीत संन्यासी गौ के सदृश ईश्वरेच्छा से जो कुछ भी प्राप्त हो जाए, उसी में निर्वाह कर लेता है। यह संन्यासी कभी किसी से कुछ नहीं माँगता। यह प्रायः फलाहारी ही होता है और यदि अन्नाहार करता है, तो केवल तीन घरों से ही अन्न लेता है। शरीर के अतिरिक्त उसके पास और कुछ भी नहीं होता । वह दिगम्बर (नग) रहते हुए अपनी इन्द्रियों को मृतकों की भाँति चेष्टारहित बना लेता है। अवधूत नामक संन्यासी किसी भी तरह के बन्धन को नहीं मानता । कलंक युक्त और पथ-भ्रष्ट मनुष्यों को त्यागकर बिना-किसी वर्ण-भेद के अजगर वृत्ति से अन्न प्राप्त करते हुए अपने आत्मा के स्वरूप के चिन्तन में सतत संलग्न रहता है ॥ १६-१७ ॥

**आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः ॥ १८ ॥**

आतुर मनुष्य संन्यास स्वीकार करने के बाद जीवित रहे, तो उसे क्रम-संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। **कुटीचकबहूदकहंसानां ब्रह्मचर्याश्रमादितुरीयाश्रमवत् कुटीचकादीनां संन्यासविधिः ॥ १९ ॥**

कुटीचक, बहूदक तथा हंस नामक इन तीन तरह के संन्यासियों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ के क्रमानुसार ही चतुर्थ आश्रम अर्थात् संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने का नियम है ॥ १९ ॥

**परमहंसादित्रयाणां न कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्डः । सार्ववर्णकभैक्षा-टनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः । संन्यासकालेऽप्यलंबुद्धिपर्यन्तमधीत्य तदनन्तरं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्वरेन्न कन्थावेशो नाध्येतव्यो न वक्तव्यो न श्रोतव्यमन्यत्किंचित्प्रणवादन्यं न तर्कं पठेन्न शब्दमपि बृहच्छब्दान्नाध्यापयेन्न महद्वाचो विग्लापनं गिरा पाण्यादिना संभाषणं नान्यस्माद्वा विशेषेण न शूद्रस्त्रीपतितोदव्या संभाषणं न यतेदेवपूजा नोत्सवदर्शनं तीर्थयात्रावृत्तिः ॥ २० ॥**

परमहंस, तुरीयातीत एवं अवधूत संन्यासियों के लिए कटिसूत्र, कौपीन दण्ड, कमण्डलु एवं वस्त्रादि धारण करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। वे जातरूपधर रहकर समस्त वर्ण-जाति के घरों से भिक्षा याचना के लिए स्वतन्त्र हैं। संन्यास धर्म स्वीकार करने के समय 'मैंने जितना भी कुछ अध्ययन किया है, वह अपने आप में पर्याप्त है' इस तरह का दृढ़-निश्चय जब तक न हो जाए, तब तक अध्ययन करते रहना चाहिए। तत्पश्चात् कौपीन, कटिसूत्र आदि को जल में विसर्जित कर देना चाहिए। यदि वह दिगम्बर (वस्त्र से रहित) हो, तो फिर वह कन्था (कथरी) आदि अपने पास न रखे, पठन-पाठन न करे, प्रवचन, कथा-स्तुति आदि त्रिवण न करे तथा उसे व्याख्यान आदि भी नहीं देना चाहिए। तर्कशास्त्र एवं शब्दशास्त्र आदि कुछ भी पढ़ने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। उसे मात्र प्रणव रूपी ॐकार का ही जप करना चाहिए। वाणी का व्यर्थ में अपव्यय करना चाहिए। संकेत मात्र से बात करना भी निषिद्ध है। वह शूद्र, पदच्युत एवं स्त्री से बात बिल्कुल न करे। रजस्वला स्त्री से तो भूलकर भी बात न करे। विशेष उत्सव समारोह-पूजा आदि देखना, तीर्थ यात्रा करना या देवताओं का पूजन-अर्चन आदि भी यति के लिए आवश्यक नहीं है ॥ २० ॥

**पुनर्यतिविशेषः ।** कुटीचकस्यैकत्र भिक्षा बहूदकस्यासंकलृप्तं माधूकरं हंसस्याष्टगृहेष्वाष्टक-  
वलं परमहंसस्य पञ्चगृहेषु करपात्रं फलाहारो गोमुखं तुरीयातीतस्यावधूतस्याजगरवृत्तिः  
सार्ववर्णिकेषु यतिनैकरात्रं वसेन्न कस्यापि नमेत्तुरीयातीतावधूतयोर्न ज्येष्ठो यो न स्वरूपज्ञः ।  
स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठो हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षमारोहेन्न यानादिसूढो न क्रयविक्रयपरो  
न किंचिद्विनिमयपरो न दाम्भिको नानृतवादी न यतेः किंचित्कर्तव्यमस्त्यस्ति चेत्सांकर्यम् ।  
तस्मान्मननादौ संन्यासिनामधिकारः ॥ २१ ॥

अब संन्यासियों के फिर से कुछ विशेष नियमोपनियम वर्णित किये जाते हैं । कुटीचक संन्यासी के लिए  
एक ही स्थान विशेष पर भिक्षा स्वीकार करने की विधि है । बहूदक संन्यासी के लिए निश्चयरहित घरों से  
मधुकरी (भिक्षा) प्राप्त करने का नियम है । हंस संन्यासी के लिए आठ गृहों से मात्र आठ ग्रास अन्न लेकर  
भोजन ग्रहण करने का विधान है । परमहंस के लिए पाँच गृहों से अन्न (भोजन) प्राप्त करने का विधान है । हाथ  
ही उसका पात्र है, इस कारण उसे 'करपात्री' भी कहते हैं । तुरीयातीत के लिए गोमुख-वृत्ति से फलाहार का  
ही विधान है । यानी जिस प्रकार गाय को जो कुछ भी भोजन कराया जाय, वह मुँह खोलकर ग्रहण कर लेती है,  
उसी प्रकार दैव इच्छा से जो भी कुछ फल-फूल प्राप्त हो जाए, उसे ही ले लेना चाहिए । अवधूत संन्यासी के  
लिए समस्त वर्ण-जाति के लोगों के यहाँ से अजगर-वृत्ति के अनुसार अन्न-प्राप्त करने का विधान है । यति  
(संन्यासी) किसी गृहस्थ के घर एक रात्रि भी निवास न करे । किसी को भी नमन-वंदन न करे । तुरीयातीत  
एवं अवधूत इन दोनों संन्यासियों में अवस्थानुसार न कोई बड़ा होता है और न ही कोई छोटा होता है । जिसे  
अपने स्वरूप का ही बोध नहीं है, वह अवस्था में बड़ा होते हुए भी छोटा ही कहा जायेगा । संन्यासी को कभी  
भी तैरकर नदी पार नहीं करनी चाहिए । वृक्षों पर भी नहीं चढ़ना चाहिए । सवारी पर न चले । क्रय-विक्रय  
आदि कुछ भी न करे । किसी भी वस्तु की अदला-बदली न करे । दम्भी (अहंकारी) एवं असत्यवादी कदापि  
न बने । यति के लिए कुछ भी करना कर्तव्य नहीं है । संन्यासियों का चिन्तन-मनन में ही समग्र रूप से पूर्ण  
अधिकार है ॥ २१ ॥

**आतुरकुटीचकयोर्भूलोकभुवलोकौ बहूदकस्य स्वर्गलोको हंसस्य तपोलोकः परमहंसस्य**  
**सत्यलोकस्तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ॥२२**  
**यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम् ॥ २३ ॥**

आतुर एवं कुटीचक नाम वाले संन्यासी पृथिवी लोक और भुवः लोक को प्राप्त करते हैं । बहूदक  
संन्यासी स्वर्ग को अर्थात् स्वः लोक को तथा हंस-संन्यासी को तपोलोक की प्राप्ति होती है । परमहंस संन्यासी  
को सत्यलोक की प्राप्ति होती है । तुरीयातीत एवं अवधूत संन्यासी अपनी अन्तरात्मा में एकमात्र कैवल्य प्राप्ति  
का ही अधिकारी होता है । वह भ्रमर का ध्यान करने वाले कृमि-कीटकों के सदृश सतत अपने स्वरूप का  
अनुसन्धान करते रहने के कारण आत्मस्वरूप ही हो जाता है । व्यक्ति मृत्यु के समय जिस-जिस भाव का ध्यान  
करते हुए अपने शरीर का परित्याग करता है, वह उसी-उसी भाव को प्राप्त करता है, यह बात व्यर्थ नहीं है, यह  
श्रुति-सम्मत उपदेश है ॥ २२-२३ ॥

**तदेवं ज्ञात्वा स्वरूपानुसन्धानं विनान्यथाचारपरो न भवेत्तदाचारवशात्तत्त्वोकप्राप्तिर्ज्ञ-**  
**नवैराग्यसंपन्नस्य स्वस्मिन्नेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिस्तदाचारः । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति-**  
**ष्वेकशरीरस्य जाग्रत्काले विश्वः स्वप्नकाले तैजसः सुषुप्तिकाले प्राज्ञः अवस्थाभेदादवस्थेश्वरभेदः**

कार्यभेदात्कारणभेदस्तासु चतुर्दशकरणानां बाह्यवृत्तयोऽन्तर्वृत्तयस्तेषामुपादानकारणम्।  
वृत्तयश्वत्वारः मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति । तत्रद्वृत्तिव्यापारभेदेन पृथगाचारभेदः ॥ २४ ॥

अतः इस तरह से समझकर संन्यासी को चाहिए कि वह अपने आत्मस्वरूप के चिन्तन के अतिरिक्त और किसी भी आचार में संलग्न न रहे । अलग-अलग आचारों का अनुष्ठान संकल्प लेने से तदनुकूल लोकों की प्राप्ति होती है; किन्तु ज्ञान-वैराग्य से युक्त संन्यासी की अपने आप में अर्थात् स्वयं में ही मुक्ति प्राप्त होती है । अन्य और किसी भी आचार में आसक्त न होना ही उसका अपना विशिष्ट आचार है । जाग्रत्, स्वप्र एवं सुषुप्ति इन तीनों स्थितियों में वह एक रूप होता है । जाग्रत् अवस्था में वही विश्वरूप, स्वप्रावस्था में तैजस-सम्पन्न तथा सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ-स्वरूप कहलाता है । काल-भेद से उन-उन अवस्थाओं के स्वामी में भेद होता है, कार्यभेद से ही कारण भेद की जानकारी प्राप्त होती है । जाग्रदादि अवस्थाओं में चौदह करणों (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा चार अन्तःकरण) की जो बाह्य वृत्तियाँ हैं, उनका उपादान कारण एक ही है अन्तः की वृत्तियाँ । अन्तः की चार वृत्तियाँ-मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार बतलायी गई हैं । उन-उन वृत्तियों के व्यापार-भेद से अलग-अलग आचरण भेद होते हैं ॥ २४ ॥

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् । सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्णं संस्थितम् ॥ २५ ॥  
तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा जागरिते सुषुप्त्यवस्थापन्न इव यद्यच्छुतं यद्यद्वृष्टं तत्तत्सर्वमविज्ञातमिव  
यो वसेत्तस्य स्वप्नावस्थायामपि तादृगवस्था भवति । स जीवन्मुक्त इति वदन्ति । सर्वश्रुत्यर्थप्रति-  
पादनमपि तस्यैव मुक्तिरिति । भिक्षुर्नैहिकामुष्मिकापेक्षा । यद्यपेक्षास्ति तदनुरूपो भवति । स्वरू-  
पानुसन्धानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यासैरुष्टकुङ्कुमभारवदव्यर्थो न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न सांख्यशा-  
स्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापारः । इतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति चेच्छवालंकारवच्चर्मकारवदतिविदू-  
कर्माचारविद्यादूरो न प्रणवकीर्तनपरो यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति । एरणडतैलफेनवदतः  
सर्व परित्यज्य तत्प्रसक्तं मनोदण्डं करपात्रं दिगम्बरं दृष्ट्वा परिव्रजेद्विद्धिक्षुः । बालोन्मत्तपिशाच-  
वन्मरणं जीवितं वा न काङ्क्षेत कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशभृतकन्यायेन परिव्राङ्गिति ॥ २६ ॥

जाग्रत् अवस्था तथा उसके नियन्ता विश्व की स्थिति नेत्र के अन्दर निहित है । स्वप्र एवं उसके अधिष्ठाता तैजस का कण्ठ में निवास है । सुषुप्ति तथा उसके स्वामी प्राज्ञ की स्थिति हृदय क्षेत्र में है और तुरीय तथा उसके स्वामी परमेश्वर का निवास ब्रह्मरन्ध्र (सिर) में कहा गया है । जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं का वर्णन करते हुए तुरीयरूप में जिसकी स्थिति कही गई है, वह तुरीय स्वरूप अविनाशी परमात्मतत्त्व में ही है, ऐसा जानकर जो जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्त की स्थिति में रहता है; जो-जो सुनी तथा जो-जो दृष्टिपात की हुई वस्तुएँ हैं, वे सब मानों अपरिचित सी हैं । इस तरह से उनकी ओर चिन्तन न करते हुए, जो स्थित रहता है, उसकी स्वप्नावस्था में भी वैसी ही स्थिति बनी रहती है अर्थात् वह स्वप्र में उपलब्ध पदार्थों को भी स्वीकार नहीं करता है । इस तरह का पुरुष जीवन्मुक्त है, ऐसा विद्वज्जन कहते हैं । समस्त श्रुतियों का मन्तव्य भी यही है कि उसी की मुक्ति होती है । भिक्षु इस लोक एवं परलोक के विषयों की भी आकांक्षा नहीं रखता है; किन्तु यदि उसकी उसके प्रति आकांक्षा हो, तो वह तदनुरूप ही हो जायेगा । अपने स्वरूप के अनुसंधान को त्यागकर दूसरे शास्त्रों का अभ्यास उसके लिए उसी तरह से बेकार है, जिस तरह से ऊँट की पीठ पर लदा हुआ केसर का भार । उस यति की योगशास्त्र में रुचि नहीं रहनी चाहिए । उसको सांख्य-शास्त्र का अभ्यास एवं मन्त्र-तन्त्र का व्यापार भी उचित नहीं है । यदि संन्यासी की रुचि अन्यान्य शास्त्रों में होती है, तो वह सभी कुछ उसके लिए

मृतक को धारण कराये हुए आभूषणों के सदृश हैं। चर्मकार की तरह से सभी से अत्यधिक दूर रहकर कर्म-आचरण एवं विद्या से भी दूर रहना चाहिए। ॐकार का भी ऊँचे स्वर से कीर्तन नहीं करना चाहिए; क्योंकि व्यक्ति जो-जो कार्य करता है, उन-उन सबका फल भी उसे भुगतना पड़ता है। इस कारण सभी को अंडी (एरण्ड) के तेल के फेन की तरह से साररहित जानकर छोड़ देना चाहिए और परमात्मा के ध्यान में रत रहकर मनोमय दण्ड तथा हाथ रूपी पात्रों को ग्रहण करने वाले दिगम्बर (वस्त्ररहित) संन्यासी का दर्शन करके उसके आदर्श को अपने समक्ष रखकर संन्यासी सर्वत्र भ्रमण करे। वह बालक, मतवाला तथा पिशाचों की तरह से जीवन अथवा मृत्यु की इच्छा न करे। आज्ञापालक भृत्य (नौकर) की तरह से परिव्राजक को मात्र काल की ही प्रतीक्षा करते रहना चाहिए अर्थात् समय के अनुसार चलना चाहिए॥ २५-२६॥

तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः । भिक्षामात्रेण जीवी स्यात्स यतिर्यतिवृत्तिहा ॥२७॥  
न दण्डधारणेन न मुण्डनेन न वेषेण न दध्माचारेण मुक्तिः ॥ २८॥ ज्ञानदण्डो धृतो येन  
एकदण्डी स उच्यते। काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः । स याति नरकान्धोरान्महारौर-  
वसंज्ञितान् ॥ २९॥ प्रतिष्ठा सूकरीविष्टासमा गीता महर्षिभिः । तस्मादेनां परित्यज्य  
कीटवत्पर्यटेद्यतिः ॥ ३०॥ अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत् । परेच्छया च दिग्वासाः  
स्नानं कुर्यात्परेच्छया ॥ ३१॥ स्वप्नेऽपि यो हि युक्तः स्याजाग्रतीव विशेषतः । ईदृक्वेष्टः स्मृतः  
श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥ ३२॥ अलाभेन विषादी स्यालाभे चैव न हर्षयेत् । प्राणयात्रिकमात्रः  
स्यान्मात्रासङ्घविवर्जितः ॥ ३३॥ अभिपूजितलाभांश्च जुगुप्सेतैव सर्वशः । अभिपूजितलाभैस्तु  
यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥ ३४॥

जो संन्यासी सहनशील, ज्ञान, वैराग्य तथा शाम-दम आदि श्रेष्ठ गुणों से रहित रहते हुए भिक्षा मात्र से ही जीवनयापन करता है, वह संन्यासी संन्यासवृत्ति का हनन करने वाला कहा गया है। केवल दण्ड ग्रहण करने, सिर मुँडाने, विभिन्न तरह के वेश बनाने तथा प्रदर्शनात्मक दृष्टि से किसी भी तरह के आचरण करने से मुक्ति नहीं मिलती। जिस यति ने ज्ञान-स्वरूप दण्ड को ग्रहण किया है, वही एकदण्डी होता है। जिस संन्यासी ने लकड़ी का दण्ड तो धारण कर लिया है; लेकिन मन में सभी तरह की इच्छाओं को स्थान दे रखा है और जो सर्वथा ज्ञान से रहित है, वह संन्यासी महारौरव आदि नाम वाले भयानक नरक को प्राप्त होता है। महान् ऋषि-मनीषियों ने प्रतिष्ठा को शूकरी के मल (विष्टा) के सदृश बतलाया है। इस कारण से संन्यासी प्रतिष्ठा को छोड़कर कृमि-कीटकों की तरह से यत्र-तत्र भ्रमण करता रहे। दिगम्बर (वस्त्र रहित) संन्यासी बिना याचना के जो कुछ प्राप्त हो जाए, वही भोजन करे तथा वैसे ही वस्त्रादि से अपने तन को ढककर रहे। वह अन्य दूसरों के कहने से वस्त्रों को धारण करे तथा दूसरों की ही इच्छा से स्नानादि सम्पत्र करे। जो संन्यासी स्वप्रावस्था में भी जाग्रदवस्था के सदृश ही विशेष रूप से सतर्क होकर के वैसी ही चेष्टा निरन्तर करता है, वही ब्रह्मवादियों में शब्दादि विषयों की आसक्ति से सदैव दूर रहे। सम्मान मिलने को वह सभी तरह से धृणा की दृष्टि से ही देखे। सम्मान का लाभ प्राप्त करने वाला संन्यासी मुक्ति प्राप्त करने पर भी आबद्ध हो जाता है॥ २७-३४॥

[ऋषि ने आन्तरिक स्तर पर वैराग्य भाव न होने पर भी संन्यासी जैसा वेश बनाने की प्रवृत्ति को नक्क का मार्ग कहा है। दण्ड आत्मानुशासन का प्रतीक है। यदि वह न हो, तो उसे धारण करना व्यर्थ है। प्रतिष्ठा- सम्मान प्राप्त करने की

इच्छा को लोकैषणा कहा जाता है। कामासक्ति और अर्थासक्ति से छुटकारा पा लेने पर भी यथाशक्ति पीछा, नहीं छोड़ती। सम्मान की आकांक्षा के कारण सम्मान-सुविधा देने वालों के प्रति भी आसक्ति होने लगती है। आसक्ति ही बन्धन है, जो मुक्ति में बाधक है।]

प्राणयात्रानिमित्तं च व्यङ्गारे भुक्तवज्जने। काले प्रशस्ते वर्णानां भिक्षार्थं पर्यटेदगृहान् ॥३५॥  
 पाणिपात्रश्वरन्योगी नासकृद्दैक्षमाचरेत्। तिष्ठभुज्याच्चरन्भुज्यान्मध्येनाचमनं तथा ॥ ३६ ॥  
 अब्धिवद्धतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः। नियतिं न विमुज्वन्ति महान्तो भास्करा इव ॥ ३७ ॥  
 आस्येन तु यदाहारं गोवमृगयते मुनिः। तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ३८ ॥  
 अनिन्द्यं वै व्रजेदगेहं निन्द्यं गेहं तु वर्जयेत्। अनावृते विशेदद्वारि गेहे नैवावृते व्रजेत् ॥ ३९ ॥  
 पांसुना च प्रतिच्छन्नशून्यागारप्रतिश्रयः। वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥ ४० ॥

जब चूल्हे की अग्नि बुझ जाए अर्थात् भोजन बनकर तैयार हो जाए और घर के सभी सदस्य भोजन प्राप्त कर लें, तब ऐसे ही उपयुक्त समय में सन्यासी श्रेष्ठ वर्ण वाले गृहस्वामियों के घर भिक्षार्थ गमन करे। भिक्षा का उद्देश्य केवल प्राण यात्रा का निर्वाह ही होना चाहिए। हाथों को ही पात्र रूप निर्मित करके भ्रमण करने वाला करपात्री सन्यासी बार-बार भिक्षा की याचना न करे। एक ही बार में जो कुछ प्राप्त हो जाए, उसे खड़े-खड़े ही ग्रहण कर ले या फिर चलते-चलते ही भोजन ग्रहण कर ले। हाथ का भोजन जब तक पूर्ण न हो जाए, बीच में जल कदापि ग्रहण न करे। संन्यासी को समुद्र के सदृश मर्यादित होकर के रहना चाहिए। उन श्रेष्ठ महाभाग का आशय महान् होता है। वे महान् रहकर सूर्य के सदृश अपने नियमों का उल्लंघन कभी नहीं करते। जिस समय सन्यासी मुनि गौ की तरह मुख से भोजन स्वीकार करने लगता है अर्थात् यदि कोई भी व्यक्ति उस यति के मुख में कुछ डाल दे, तब ही वह भोजन ग्रहण करता है। उस समय समस्त प्राणि-समुदाय के प्रति उसका समान भाव हो जाता है तथा वह अमृतत्व अर्थात् मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। जो घर निन्दनीय न हो, वहीं भिक्षा ग्रहण हेतु जाये। निन्दित गृहों का परित्याग कर दे। जिस भवन का दरवाजा खुला हो, उसी में प्रवेश करे। जिसका दरवाजा बन्द हो, उस घर में उसे नहीं जाना चाहिए। धूल आदि से आच्छादित निर्जन भवनों में उसे आश्रय प्राप्त करना चाहिए। सभी प्रकार प्रिय एवं अप्रिय का परित्याग कर देना चाहिए ॥ ३५-४० ॥

यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः। यथालब्धोपजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ ४१ ॥  
 निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयज्ञो जितेन्द्रियः। कालकाइक्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४२ ॥  
 अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः। न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ४३ ॥  
 निर्मानश्चानहंकारो निर्द्वन्द्वशिष्ठनसंशयः। नैव क्रुद्यति न द्वेष्टि नानृतं भाषते गिरा ॥ ४४ ॥  
 पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः। काले प्राप्ते भवेद्दैक्षं कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ ४५ ॥  
 वानप्रस्थगृहस्थायां न संसृज्येत कर्हिचित्। अज्ञातचर्या लिप्सेत न चैनं हर्षं आविशेत्। अध्वा-  
 सूर्येण निर्दिष्टः कीटवद्विचरेन्महीम् ॥ ४६ ॥

जहाँ सूर्यास्त हो जाए, सन्यासी को वहीं पर शयन करना चाहिए। अपने पास न तो कोई अग्नि ही रखे तथा न ही अपना कोई घर ही निर्माण करे। ईश्वरेच्छा से जो भी कुछ मिल जाए, उसी पर आश्रित होकर जीवन-यापन करे। मन तथा इन्द्रियों को सदैव अपने अंकुश में रखे। जो 'यति' अपने घर का परित्याग करके, वन का आश्रय प्राप्त करता है, अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए ज्ञान-यज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न करता है तथा काल की प्रतीक्षा करता हुआ निरन्तर विचरण करता है, ऐसा वह सन्यासी निश्चय ही ब्रह्म भाव को प्राप्त करने का

अधिकारी होता है। जो परिव्राजक समस्त प्राणियों को अभयदान करके विचरण करता है, उसे भी किसी प्राणी से कहीं पर भी भय नहीं होता; जो मान और अहंकार का परित्याग करके द्वन्द्व जनित विकार से रहत हो जाता है; उसके मन के सभी संशय मिट जाते हैं; वह न तो किसी प्राणी पर क्रोध करता है, न किसी से ईर्ष्या-द्वेष आदि रखता है तथा न वाणी से कभी मिथ्यावादन ही करता है। जो पुण्य स्थलों में सतत विचरण करता रहता है, किसी भी भूत (प्राणी) की हिंसा नहीं करता तथा समय मिलने पर भिक्षा-मात्र से ही अपना जीवन-निर्वाह पूर्ण करता है; ऐसा यति ब्रह्म के भाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है। उसे वानप्रस्थ तथा गृहस्थों से कभी भी संसर्ग नहीं रखना चाहिए। वह इस बात का ध्यान रखे कि उसकी जीवनचर्या अन्य दूसरों पर परिलक्षित न हो। संन्यासी में कभी भी प्रसन्नता का आवेश नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार कृष्ण-कीटक सतत विचरण करते रहते हैं, उसी प्रकार संन्यासी भी सूर्य के द्वारा दिखलाए हुए मार्ग से पृथिवी पर विचरण करे अर्थात् रात्रि में विचरण न करे ॥ ४१-४६ ॥

आशीर्युक्तानि कर्माणि हिंसायुक्तानि यानि च । लोकसंग्रहयुक्तानि नैव कुर्यात्र कारयेत् ॥४७॥  
 नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् । अतिवादांस्त्यजेत्तर्कान्यक्षं कंचन नाश्रयेत् ॥४८॥  
 न शिष्याननुबक्षीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्वृहन् । न व्याख्यामुपयुज्जीत नारम्भानारभेत्कचित् ॥४९॥  
 अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थो मुनिरुमत्तवालवत् । कविर्मूकवदात्मानं तददुष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥५०॥  
 न कुर्यात्र वदेत्किंचिन्न ध्यायेत्साधवसाधु वा । आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेजडवन्मुनिः ॥५१॥  
 एकश्वरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः । आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः ॥५२॥  
 बुधो वालकवत्कीडेत्कुशलो जडवच्चरेत् । वदेदुम्तवद्विद्वान् गोचर्या नैगमश्वरेत् ॥५३॥  
 क्षिसोऽवमानितोऽसद्दिः प्रलब्धोऽसूयितोऽपि वा । ताडितः संनिरुद्धो वा वृत्त्या वा परितापितः ॥  
 विष्णितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकल्पितः । श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥५५॥  
 संमाननं परां हानिं योगद्वेषः कुरुते यतः । जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥५६॥  
 तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् । जना यथावमन्येरनाच्छेयुर्नैव सङ्गतिम् ॥५७॥  
 जरायुजाण्डजादीनां वाद्यमनःकायकर्मभिः । युक्तः कुर्वीत न द्रोहं सर्वसङ्गांश्व वर्जयेत् ॥५८॥  
 कामक्रोधौ तथा दर्पलोभमोहादयश्च ये । तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राद् भयवर्जितः ॥५९॥

'कामनाओं, हिंसा एवं लोक संग्रह से संयुक्त जो-जो भी कर्म हैं, उन समस्त कर्मों को परिव्राजक न तो खुद करे और न ही दूसरे अन्य लोगों से ही कराये। असत् शास्त्रों के प्रति कभी भी आसक्त न हो। वह किसी भी तरह का जीविका-उपार्जन को साधनभूत कर्म सम्पन्न करके जीवनयापन कदापि न करे। अनावश्यक बात कभी न करे तथा तर्क-वितर्क आदि भी करना त्याग दे। वादी एवं प्रतिवादी में से किसी का भी पक्ष ग्रहण न करे। शिष्यों का भी संग्रह नहीं करना चाहिए। विभिन्न तरह के अधिकाधिक ग्रंथों का अध्ययन न करे तथा अपने पक्ष की सफलता के लिए अपने मन की व्याख्या का प्रयोग न करे। भिन्न-भिन्न आयोजनों-उत्सवों आदि के द्वारा अपनी ख्याति न फैलाए। अपने आश्रमादि का कोई चिह्न विशेष न लगाए। दूसरे लोगों के समक्ष पागल अथवा बालकों के सदृश अज्ञानी बना रहे। ज्ञानवान् होकर के भी गौंगे की भौंति मौन धारण किये रहे। दूसरे अन्य लोग जिस प्रकार का भाव रखें, उनके सामने दैरा ही अपना स्वरूप बनाकर रहे। अच्छे-बुरे विचारों को अपने मन में न आने दे। मूक होकर विचरण करे तथा किसी भी तरह का कोई कर्म न करे। अपनी आत्मा में ही सदैव रमण करता रहे। सर्वत्र जड़वत् शान्त होकर रहे। अपनी इन्द्रियों को संयमित रखे। वासना का

परित्याग कर दे तथा भूमि पर अकेला ही भ्रमण करे। किसी को अपना साथी-सहचर आदि न बनाये। सभी को सम्यक् दृष्टि से देखे। बालक की तरह चेष्टा करे। समस्त कार्यों में पारंगत होते हुए भी अज्ञानियों की तरह रहे। वेदों का पूर्ण ज्ञान होने पर भी गौ की तरह से (सहज) रहे। सदैव उन्मत्तों की तरह से बात करे। दुष्टजनों के द्वारा किये गये अपमान, झूठे आरोप, लांछन आदि को शान्त मन से सहन कर ले। यदि वे दुष्टजन प्रताङ्गित करते हैं, बाँधकर के रखते हैं या क्रियाकलाप में व्यवधान उत्पन्न करते हैं, तब भी विचलित न होकर शान्त ही बने रहना चाहिए। अज्ञानी लोग यदि शरीर के ऊपर थूक दें, मल-मूत्र त्याग करें अथवा अन्य किसी भी तरह का कष्ट दें, तो उसे भी सहन कर लेना चाहिए। संकट के उत्पन्न होने पर अपना ही उद्धार करने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे अन्य लोगों के द्वारा प्राप्त हुआ आदर-सम्मान तप के उपार्जन में हानि प्रदान करने वाला है; किन्तु अपमानित हुआ परिव्राजक बहुत शीघ्र ही अपने लक्ष्य (योगसिद्धि) को प्राप्त कर लेता है। श्रेष्ठयोगी परिव्राजक श्रेष्ठ जनों के धर्म को कलङ्कित न करते हुए दृढ़-निश्चय होकर ऐसा आचरण करे, जिससे कि सामान्य जन उसका अपमान ही करें तथा उसके सम्पर्क में न आयें। परिव्राजक योगारुद्ध हो मन, वचन, कर्म एवं शरीर द्वारा जरायुज तथा अण्डज आदि किसी भी प्राणी के साथ द्रोह न करे एवं सभी तरह की आसक्तियों का परित्याग कर दे। काम, क्रोध, मद, लोभ तथा मोह आदि जितने भी प्रकार के दोष हैं, उनका त्याग करके परिव्राजक भयरहित हो जाता है॥ ४७-५९॥

भैक्षाशनं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः। सम्प्यग्जानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः॥ ६०॥  
 काषायवासाः सततं ध्यानयोगपरायणः। ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वसेदेवालयेऽपि वा ।  
 भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नाशी भवेत्कचित्॥ ६१॥ चित्तशुद्धिर्भवेद्यावत्तावन्नित्यं चरेत्सुधीः।  
 ततः प्रवृत्य शुद्धात्मा संचरेद्यत्र कुत्रचित्॥ ६२॥ बहिरन्तश्च सर्वत्र संपश्यन्हि जनार्दनम्।  
 सर्वत्र विचरेन्मौनी वायुवद्वीतकल्पषः॥ ६३॥ समदुःखसुखः क्षान्तो हस्तप्राप्तं च भक्षयेत्।  
 निवैरेण समं पश्यन्द्विजगोऽश्वमृगादिषु॥ ६४॥ भावयन्मनसा विष्णुं परमात्मानमीश्वरम्। चिन्मयं  
 परमानन्दं ब्रह्मैवाहमिति स्मरन्॥ ६५॥ ज्ञात्वैवं मनोदण्डं धृत्वा आशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरो  
 भूत्वा सर्वदा मनोवाक्षायकर्मभिः सर्वसंसारमुत्सृज्य प्रपञ्चावाइमुखः स्वरूपानुसन्धानेन  
 भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवतीत्युपनिषत्॥ ६६॥

परिव्राजक का निश्चय किया हुआ धर्म—भिक्षा की वृत्ति द्वारा अर्जित भोज्य-पदार्थ ग्रहण करना, मौन व्रत का अवलम्बन ग्रहण करना, तपस्या में निरन्तर लगे रहना, सद्ज्ञान के अनुसंधान में रत रहना तथा मन में सदैव विरक्ति भाव उत्पन्न होना है। गेरुआ वस्त्र धारण कर योगी निरन्तर ध्यान-योग में संलग्न रहे। गाँव के बाहर, वृक्ष की जड़ के समीप में या किसी देव मन्दिर में वास करे। नित्य वह भिक्षा द्वारा अर्जित भोज्य-सामग्री से ही अपना निर्वाह करे। किसी एक ही सद्गृहस्थ के घर का अन्न-भोज्य पदार्थ तो उसे कभी नहीं ग्रहण करना चाहिए। श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्य को प्रतिदिन अपने आश्रमानुसार श्रेष्ठ आचरण का पालन करना चाहिए तथा यह श्रेष्ठ आचरण तब तक करता रहे, जब-तक कि अन्तःकरण पूरी तरह से पवित्र न हो जाए। अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर वह योगी संन्यास-धर्म ग्रहण कर यत्र-तत्र इच्छानुसार भ्रमण करे। संन्यासी बाह्य-जगत् एवं अन्तर्जगत् सभी जगह एकमात्र श्रीमन्नारायण का ही दर्शन करते हुए वायु की तरह से पाप-सम्पर्क से अलग होकर मौन रहते हुए सर्वत्र विचरण करे। उसे सुख-दुःख में समान रूप से रहना चाहिए। अपने मन में सदैव क्षमा-भाव बनाये रखे। हाथ पर जो भी कुछ भोज्य-पदार्थ आ जाए, उसे ही ग्रहण कर लेना चाहिए। कहीं पर

भी किसी से बैर न रखते हुए ब्राह्मण, गौ, अश्व एवं मृग आदि समस्त जीवों में समान दृष्टि रखे। मन ही मन सभी परमपिता सर्वव्यापी परमात्मस्वरूप का ही ध्यान करते हुए मैं ही 'परमानन्द स्वरूप परब्रह्म हूँ' ऐसी भावना करनी चाहिए। 'यति' परिव्राजक इस तरह से समझकर मनोमय ज्ञानरूपी दण्ड धारण करके समस्त आशाओं से मुक्त हो जाता है तथा वस्त्र रहित होकर सदैव मन, वचन, कर्म एवं शरीर के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का परित्याग करके, मायाजनित प्रपञ्चों की ओर से मुख मोड़कर भ्रमर कीटक न्याय के अनुसार (ब्रह्म में निमग्न) रहकर मुक्ति प्राप्त करता है। ऐसा ही यह उपनिषद् है ॥ ६०-६६ ॥

[ 'भ्रमरकीटक-न्याय' का उल्लेख ध्यान-धारणा के क्रम में बहुधा आता है। भृंगी नामक कीट किसी कीट को पकड़कर अपने बिल में ले जाता है। वहाँ वह उसे भ्रमर गुंजार से इतना प्रभावित कर लेता है कि वह कीट भी भृंगी बन जाता है। यति को सतत ब्रह्म चिन्तन में लीन रहकर स्वयं को ब्रह्मरूप अनुभव करना चाहिए। यह इस उक्ति का भाव है। ]

## ॥ षष्ठोपदेशः ॥

( तुरीयातीत पद एवं उसकी प्राप्ति के उपाय तथा परिव्राजक की जीवनचर्या )

अथ नारदः पितामहमुवाच । भगवन् तदभ्यासवशात् भ्रमरकीटन्यायवत्तदभ्यासः कथमिति । तमाह पितामहः । सत्यवाग्ज्ञानवैराग्याभ्यां विशिष्टदेहावशिष्टो वसेत् ॥ १ ॥

तत्पश्चात् पितामह ब्रह्मा जी से देवर्षि नारद ने पूछा- "हे पितामह! आपने यह कहा है कि भ्रमर-कीट-न्याय द्वारा अपने स्वरूप को जान लेने के पश्चात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, परन्तु उस स्वरूप को जान लेने का अभ्यास कैसे किया जाये?" ऐसा श्रवण कर पितामह ब्रह्माजी ने कहा- "हे नारद! जीवन में सत्य को धारण करते हुए ज्ञान एवं वैराग्य के द्वारा इस शरीर की आसक्ति का परित्याग करे, शेष बचे हुए एक अतिश्रेष्ठ शरीर में प्रतिष्ठित होकर रहे ॥ १ ॥"

ज्ञानं शरीरं वैराग्यं जीवनं विद्धि शान्तिदान्ती नेत्रे मनो मुखं बुद्धिः कला पञ्चविंशति-तत्त्वान्यवयवा अवस्था पञ्चमहाभूतानि कर्म भक्तिज्ञानवैराग्यं शाखा जाग्रत्स्वप्नसुषुमितुरीया-शृतुर्दशकरणानि पञ्चस्तभाकाराणीति । एवमपि नावप्रतिपञ्चं कर्णधार इव यन्तेव गजं स्वबुद्ध्या वशीकृत्य स्वव्यतिरिक्तं सर्वं कृतकं नश्वरमिति मत्वा विरक्तः पुरुषः सर्वदा ब्रह्माहमिति व्यवहरेन्नान्यत्किंचिद्वेदितव्यं स्वव्यतिरेकेण । जीवमुक्तो वसेत्कृतकृत्यो भवति । न नाहं ब्रह्मेति व्यवहरेत्किंतु ब्रह्माहमस्मीत्यजस्तं जाग्रत्स्वप्नसुषुमिषु । तुरीयावस्थां प्राप्य तुरीयातीतत्वं व्रजेत् ॥ २ ॥

ज्ञान ही वह अवशिष्ट शरीर है। वैराग्य ही उस देह का प्राण है, शम एवं दम ही दो नेत्र हैं। पूर्णरूपेण शुद्ध मन ही मुख है, बुद्धि कला है, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच विषय, चार अन्तःकरण एवं अव्यक्त प्रकृति-यही पच्चीस तत्त्व उस अवशिष्ट शरीर के अंग-अवयव हैं। उस शरीर के पंचमहाभूत जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत ये पाँच अवस्थायें हैं। इस शरीर की शाखाएँ अर्थात् भुजाएँ कर्म, भक्ति, ज्ञान, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत ये चारों अवस्थायें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय ही चार भुजाएँ हैं। पूर्व में एवं वैराग्य कही गयी हैं अथवा ये चारों अवस्थायें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय ही चार भुजाएँ हैं। इस तरह की स्थिति में भी, जिस प्रकार कहे हुए चौदह करण पञ्च में विद्यमान जीर्ण खम्भों के सदृश हैं। इस तरह की स्थिति में भी, जिस प्रकार कीचड़ में पड़ी हुई नाव को भी श्रेष्ठ नाविक ठीक रास्ते पर ढकेल कर ला ही देता है, वैसे ही संसार रूपी सागर कीचड़ में फँसी हुई इस ज्ञानवैराग्यरूपी नौका को श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा अपने वश में रख कर ठीक उसी प्रकार पार लगायें, जैसे महावत हाथी को अपने अंकुश में रखकर सही मार्ग से ले जाता है। ज्ञानस्वरूप उस श्रेष्ठ शरीर

में प्रतिष्ठित हुआ पुरुष 'मेरे सिवाय जो भी है, वह सभी कुछ काल्पनिक होने के कारण नाशवान् है', ऐसा समझकर सदैव 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म ही हूँ) का उच्चारण करे। अपनी अन्तरात्मा के अलावा दूसरी अन्य कोई भी वस्तु ज्ञात नहीं है, इस प्रकार से दृढ़ निश्चय करके जीवन्मुक्त होकर विचरण करे। इस तरह से जीवन्यापन करने वाला परिव्राजक कृतकृत्य हो जाता है। अपने व्यावहारिक जगत् में भी इस प्रकार न कहे कि "मैं ब्रह्म नहीं हूँ।" वरन् निरन्तर इस धारणा को पुष्टि प्रदान करता रहे कि "मैं स्वयं ही ब्रह्म हूँ।" इन तीन अवस्थाओं-जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति को क्रमशः पार करके तुरीयावस्था में पहुँचकर परिव्राजक तुरीयातीत परमात्मा के पद में प्रविष्ट होता है ॥ २ ॥

दिवा जाग्रत्तं स्वप्नं सुषुप्तमर्थरात्रं गतमित्येकावस्थायां चतस्रोऽवस्थास्त्वेकैक - करणाधीनानां चतुर्दशकरणानां व्यापारश्चक्षुरादीनाम्। चक्षुषो रूपग्रहणं श्रोत्रयोः शब्दग्रहणं जिह्वाया रसास्वादनं घाणस्य गन्धग्रहणं वचसो वाग्व्यापारः पाणेरादानं पादयोः संचारः पायोरुत्पर्ग उपस्थस्यानन्दग्रहणं त्वचः स्पर्शग्रहणम्। तदधीना च विषयग्रहणबुद्धिः बुद्ध्या बुद्ध्यति चित्तेन चेतयत्यहंकारेणाहंकरोति। विसृज्य जीव एतान्देहाभिमानेन जीवो भवति। गृहाभिमानेन गृहस्थ इव शरीरे जीवः संचरति। प्रागदले पुण्यावृत्तिराग्रेय्यां निद्रालस्यौ दक्षिणायां क्रौर्यबुद्धिर्नैर्त्रहत्यां पापबुद्धिः पश्चिमे क्रीडारतिवायव्यां गमने बुद्धिरुत्तरे शान्तिरीशान्ये ज्ञानं कर्णिकायां वैराग्यं केसरेष्वात्मचिन्ता इत्येवं वक्त्रं ज्ञात्वा ॥ ३ ॥

दिन जाग्रत्-अवस्था है, रात्रि स्वप्नावस्था है तथा सुषुप्ति अद्वात्रि स्वरूप है। ये तीनों अवस्थाएँ तुरीयावस्था में विद्यमान हैं। तुरीयावस्था तुरीयातीत में प्रतिष्ठित है। इस तरह से एक ही अवस्था में चार अवस्थायें निहित हैं। मन, बुद्धि, चित एवं अहंकार-इन चार अन्तःकरणों में से हर एक के अधीन जो नेत्र आदि चौदह करण आगे स्पष्ट किये गये हैं, उनके पृथक्-पृथक् कार्य बतलाये जाते हैं। चक्षुओं का कार्य रूप को आकृष्ट करना है, श्रोत्रों का कार्य-क्षेत्र शब्द की उपलब्धि अर्जित करना है, जिह्वा का कार्य रसास्वादन लेने का है, गन्ध की अनुभूति नासिका का कार्य है, वाकशक्ति का कार्य बोलना है। हाथों का कार्य किसी वस्तु को प्राप्त करना, उठाना व पहुँचाना है, पैरों का कार्य निरन्तर चलते रहना है, गुदा का काम मल विसर्जन है तथा विषय जनित आनन्दानुभव जननेन्द्रिय का काम है। स्पर्शानुभव त्वचा का कार्य है। इनके आश्रित विषय-ग्रहण की बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा जानकारी प्राप्त करता है। चित्त से चैतन्यता की प्राप्ति करता है। अहंकार से अहंता का अनुभव होता है। इन सभी (चौदह) भावों की विशेषरूप से सृष्टि करके इनके समूह रूपी देह में आत्माभिमान करने के कारण तुरीय-चेतनतत्त्व ही जीवरूप में हो जाता है। जिस प्रकार गृह में अभिमानपूर्वक व्यक्ति गृहस्थ बन जाता है, उसी प्रकार देह में अभिमानपूर्वक तुरीय चेतन जीव होकर विचरण करता है। शरीर के अन्तःकरण में अष्टपंखुडियों से युक्त हृदय रूपी कमल है, उस हृदय में प्रतिष्ठित रहने वाला जीव जब उक्त कमल के पूर्ववर्ती दल में विचरण करता है, तब उसमें पुण्यरूपी अनुष्ठान की प्रवृत्ति होती है। आग्रेय कोण वाले दल में स्थित होने पर वह पुरुष आलस्य एवं निद्रा से ग्रस्त हो जाता है। दक्षिण दिशा के दल में प्रतिष्ठित होने पर उस व्यक्ति में क्रूरता का भाव आ जाता है। नैर्त्रहत्य कोण का आश्रय प्राप्त करने पर उस पुरुष में सद्बुद्धि जाग्रत् हो जाती है। पश्चिम दिशा के दल में प्रतिष्ठित होने पर वह क्रीड़ा में अत्यधिक आसक्त हो जाता है। वायव्य कोण के दल में गमन करने पर उस पुरुष की बुद्धि श्रेष्ठ मार्ग में गमन करने लगती है। उत्तर दिशा के दल में प्रविष्ट होने पर उसे शान्ति की अनुभूति होती है। ईशानकोण में स्थिति होने पर विशेष ज्ञान की प्राप्ति

होती है। उस कमल की कर्णिका में विद्यमान रहने पर उस पुरुष के अन्तः में वैराग्य-भाव की जागृति होती है तथा केसरों में प्रविष्ट होने पर उस पुरुष श्रेष्ठ का मन आत्मा के ध्यान में लगता है। इस तरह से जिसमें चैतन्यतत्त्व ही मुख के सदृश प्रमुख है, ऐसे उस आत्मस्वरूप को समझ कर ज्ञानवान् मनुष्य (परिव्राजक) तुरीयातीत ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ३ ॥

जीवदवस्थां प्रथमं जाग्रदद्वितीयं स्वप्नं तृतीयं सुषुप्तं चतुर्थं तुरीयं चतुर्भिर्विरहितं  
तुरीयातीतम् । विश्वतैजसप्राज्ञतटस्थभेदैरेक एव एको देवः साक्षी निर्गुणश्च तद्व्याहमिति व्याहरेत् ।  
नो चेज्जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्त्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्त्रोऽवस्थाः सुषुप्ते  
सुषुत्यादिचतस्त्रोऽवस्थाः तुरीये तुरीयादिचतस्त्रोऽवस्थाः न त्वेवं तुरीयातीतस्य निर्गुणस्य ।  
स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञेश्वरैः सर्वावस्थासु साक्षी त्वेक एवावतिष्ठते । उत तटस्थो  
द्रष्टा तटस्थो न द्रष्टा द्रष्टृत्वात्र द्रष्टैव कर्तृत्वभोक्तृत्वाहंकारादिभिः स्पृष्टो जीवः जीवेतरो न स्पृष्टः ।  
जीवोऽपि न स्पृष्ट इति चेन्न । जीवाभिमानेन क्षेत्राभिमानः शरीराभिमानेन जीवत्वम् । जीवत्वं  
घटाकाशमहाकाशवद्यवधानोऽस्ति । व्यवधानवशादेव हंसः सोऽहमिति मन्त्रेणोच्छासनिः -  
श्वासव्यपदेशेनानुसन्धानं करोति । एवं विज्ञाय शरीराभिमानं त्यजेत्र शरीराभिमानी भवति । स  
एव ब्रह्मेत्युच्यते ॥ ४ ॥

जीव की चार अवस्थाओं में से पहली जाग्रत् अवस्था, दूसरी स्वप्नावस्था, तीसरी सुषुप्ति तथा चौथी  
तुरीयावस्था है। इन चारों अवस्थाओं से परे तुरीयातीत अवस्था है। एक ही आत्मा विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तटस्थ  
के भेद से चार तरह का प्रतीत होता है। इस कारण एक ही परमात्मदेव सभी के साक्षी स्वरूप एवं सत्त्वादि  
गुणों से परे माने गये हैं तथा वह ब्रह्म मैं स्वयं हूँ, ऐसा ही कहे। तुरीयातीत अवस्था से युक्त पुरुष को उपर्युक्त  
चारों अवस्थाओं के अनुभव से रहित मानना चाहिए। अन्यथा जिस तरह से जाग्रत् अवस्था में जाग्रत् आदि चार  
अवस्थायें होती हैं, स्वप्न में स्वप्नादि चार अवस्थाएँ होती हैं, सुषुप्ति में सुषुप्ति आदि चार अवस्थाएँ होती हैं तथा  
तुरीय में तुरीयादि चार अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही तुरीयातीत में भी इन चारों अवस्थाओं के होने की स्थिति हो  
सकती है; किन्तु यथार्थ में तुरीयातीत के निर्गुण होने से उसमें अवस्था भेद संभव नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म एवं  
कारणरूप जो विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ ब्रह्मरूप हैं, इन सभी के साथ समस्त अवस्थाओं में एक ही साक्षी रहता है;  
किन्तु तटस्थ ईश्वर द्रष्टा नहीं, क्योंकि तटस्थ मायाधारी ईश्वर के रूप में होता है, किन्तु उसका कोई द्रष्टा नहीं है,  
अतः तटस्थ ही द्रष्टा नहीं हो सकता। इस कारण वह द्रष्टा नहीं है, ऐसा ही मानना चाहिए। तब जीव को ही द्रष्टा  
मान लिया जा सकता है। नहीं, जीव द्रष्टा नहीं हो सकता है; क्योंकि वह कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं अहंकार आदि  
से युक्त है। जीव के अतिरिक्त जो तुरीयातीत परमात्मसत्ता है, वह ऊपर कहे हुए दोषों के सम्पर्क से परे है। यदि  
यह कहें कि जीव भी स्वरूपानुसार शुद्ध चैतन्य ही है, इस कारण वह भी कर्तृत्व आदि के संस्पर्श से परे है, तो  
यह भी सही नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमें जीवत्व का अहं होने से इस देह रूपी क्षेत्र में उसका  
अभिमान है तथा शरीर के अहं (अभिमान) के कारण ही उसमें जीवत्व निहित है। परमात्मतत्त्व से जीव तत्त्व  
का व्यवधान ठीक उसी तरह से है, जिस तरह महाकाश से घटाकाश का है। व्यवधान के कारण ही हंसरूपी  
जीव उच्छ्वास एवं निःश्वास के माध्यम से सदैव 'सोऽहम्' नामक मंत्र का चिन्तन करते हुए निरन्तर अपने  
आत्म-स्वरूप का अनुसंधान करता है। ऐसा समझकर शरीर में आत्माभिमान का परित्याग कर दे। जो 'यति'  
शरीराभिमानी नहीं होता, वही ब्रह्म कहलाता है ॥ ४ ॥

[ मनुष्य जाग्रत् अवस्था में सक्रिय , कल्पना अवस्था में स्वप्न, तन्मयता में सुषुप्ति तथा ध्यानादि में तुरीयावस्था में स्थित होता रहता है। स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय आदि में भी शरीर के विविध संस्थान जाग्रत् की तरह कार्य करते रहते हैं, इसलिए चारों अवस्थाओं में अन्य तीनों अवस्थाओं का आंशिक समावेश रहता है, ऐसा कहा गया है। ]

त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः । पिथाय बुद्ध्या द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत् ॥५॥  
 शून्येष्वेवावकाशेषु गुहासु च वनेषु च । नित्ययुक्तः सदा योगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत् ॥ ६ ॥  
 आतिथ्यश्राद्धयज्ञेषु देवयात्रोत्सवेषु च । महाजनेषु सिद्ध्यर्थी न गच्छेद्योगवित्क्वचित् ॥ ७ ॥  
 यथैनमवमन्यन्ते जनाः परिभवन्ति च । तथा युक्तश्श्रेद्योगी सतां वर्त्म न दूषयेत् ॥ ८ ॥  
 वागदण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः । यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः ॥ ९ ॥  
 विधूमे च प्रशान्ताग्रौ यस्तु माधूकर्णं चरेत् । गृहे च विप्रमुख्यानां यतिः सर्वोत्तमः स्मृतः ॥ १० ॥  
 दण्डभिक्षां च यः कुर्यात्स्वधर्मे व्यसनं विना । यस्तिष्ठति न वैराग्यं याति नीचयतिर्हि सः ॥ ११ ॥  
 यस्मिन्नृहे विशेषेण लभेद्विक्षां च वासनात् । तत्र नो याति यो भूयः स यतिर्नेतरः स्मृतः ॥ १२ ॥  
 यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम् । पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम् ॥ १३ ॥  
 परतत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् । वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥ १४ ॥  
 नात्मनो बोधस्वरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा । इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥ १५ ॥  
 यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् । स वर्णानाश्रमान्सर्वान्तीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥ १६ ॥  
 योऽतीत्य स्वाश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् । सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदार्थवेदिभिः ॥ १७ ॥  
 तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि नारद । आत्मन्यारोपिताः सर्वे भ्रान्त्या तेनात्मवेदिना ॥ १८ ॥  
 न विधिर्न निषेधश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना । ब्रह्मविज्ञानिनामपस्ति तथा नान्यच्च नारद ॥ १९ ॥

परिव्राजक आसक्ति-रहित होकर, क्रोध को अपने वश में रखे तथा अल्प आहार ग्रहण करते हुए इन्द्रियों को अपने नियंत्रण में रखे । अपनी समस्त इन्द्रियों के द्वारों का अवरोध कर आत्मस्वरूप का चिन्तन करना ही उसका प्रमुख कर्तव्य हो जाता है । योग में अनुरक्त मनुष्य को निरन्तर अपनी साधना में संलग्न रहना चाहिए । वह 'योगी' एकान्त स्थल में, जंगल अथवा कन्दरा में ही निवास करे तथा सदैव आत्म चिन्तन में सतत लगा रहे । 'योगी' को कभी भी श्राद्ध, यज्ञ, अतिथि-सत्कार, देवपूजन आदि किसी तरह के मांगलिक व धार्मिक आयोजनों में शामिल नहीं होना चाहिए । उसे संसारी जनों से दूर रहने के लिए इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, जिससे कि कोई भी व्यक्ति उसके समक्ष जाने के लिए उत्सुक ही न हो तथा सदैव उसकी उपेक्षा एवं अपमान ही करता रहे । जो इन तीनों वाणी, मन एवं कर्म रूपी दण्डों को अपने नियंत्रण में रखे, वास्तव में वही त्रिदण्डी परिव्राजक है । श्रेष्ठ परिव्राजक वही है, जो चूल्हे का धुआँ बन्द होने के पश्चात् अर्थात् आग बुझ जाने पर ही भिक्षा के द्वारा मधुकरी आदि माँग कर ग्रहण करता है । लेकिन जिसके मन में संन्यास नहीं होता, फिर भी संन्यास धारण कर भिक्षा-वृत्ति से जीवन निर्वाह करता है, वह निम्र श्रेणी का परिव्राजक होता है । जिस भवन से भिक्षा प्राप्त हो, उस भवन में मोहवश दुबारा कभी न जाए । जो प्रकाशस्वरूप, विज्ञानमय, सुखस्वरूप, सर्वसाक्षी, देह, इन्द्रिय आदि से पृथक् ब्रह्म है, उस अविनाशी ब्रह्म को ही अपने स्वयं के रूप में दृष्टिपात करता है; वही वर्ण आश्रमादि से परे है; क्योंकि वर्ण एवं आश्रम का प्राकट्य माया से ही हुआ है । जो 'यति' स्वयं को ही बोधस्वरूप आत्मा एवं वर्ण, आश्रम आदि से रहित मानता है, वही वास्तव में सच्चा संन्यासी है । जो परिव्राजक आत्म साक्षात्कार के कारण वर्ण एवं आश्रम से सम्बन्धित आचारों का परित्याग कर चुका है,

वास्तव में वही 'यति' अपने प्रत्यक्ष स्वरूप में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार के पुरुष को ही वेदान्त के प्रवक्ताओं ने अतिवर्णश्रीमी कहा है। शरीरगत होने पर समस्त वर्ण एवं आश्रम आत्मा में प्रतिष्ठित करना आत्मवेत्ता पुरुषों द्वारा व्यर्थ बतलाया जाता है। ब्रह्मज्ञान में निष्णात योगियों के लिए कुछ भी विधि-निषेध नहीं है और किसी भी वस्तु के त्याज्यात्याज्य होने का नियम भी नहीं है। वे 'यति' तो सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं ॥५-१९॥

विरज्य सर्वभूतेभ्य आ विरिज्यपदादपि । घृणां विपाट्य सर्वस्मिन्प्रवित्तादिकेष्वपि ॥ २० ॥

श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया । उपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविदं ब्रजेत् ॥ २१ ॥

सेवाभिः परितोष्यैनं चिरकालं समाहितः । सदा वेदान्तवाक्यार्थं शृणुयात्सुसमाहितः ॥ २२ ॥

निर्ममो निरहंकारः सर्वसङ्ख्यविवर्जितः । सदा शान्त्यादियुक्तः सन्नात्मन्यात्मानमीक्षते ॥ २३ ॥

संसारदोषदृष्ट्यैव विरक्तिर्जायते सदा । विरक्तस्य तु संसारात्संन्यासः स्यान्न संशयः ॥ २४ ॥

मुमुक्षुः परहंसाख्यः साक्षात्मोक्षैकसाधनम् । अभ्यसेद्ब्रह्मविज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना ॥ २५ ॥

ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंससमाहृयः । शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत् ॥ २६ ॥

वेदान्ताभ्यासनिरतः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः । निर्भयो निर्ममो नित्यो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ २७ ॥

जीर्णकौपीनवासाः स्यान्मुण्डी नग्नोऽथ वा भवेत् । प्राज्ञो वेदान्तविद्योगी निर्ममो निरहंकृतिः ॥ २८ ॥

मित्रादिषु समो मैत्रः समस्तेष्वेव जन्तुषु । एको ज्ञानी प्रशान्तात्मा स संतरति नेतरः ॥ २९ ॥

ब्रह्म के जिज्ञासुओं को समस्त भूत-प्राणियों एवं ब्रह्मा तक के पद से विरक्ति होनी चाहिए। समस्त पदार्थों, पुत्र एवं धन आदि में प्रेम-मोह आदि न रखकर निरन्तर मोक्ष के साधन प्राप्त करने में ही श्रद्धा रखनी चाहिए तथा औपनिषदीय ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से हाथ में कुछ (समिधा आदि) भेंट लेकर के गुरु की सेवा में उपस्थित हो जाना चाहिए। वहाँ दीर्घ-काल तक अपनी सेवाओं से गुरु को प्रसन्न रखते हुए अपने चित्त को ठीक तरह से एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करता हुआ उपनिषद्-वाक्यों के अर्थों को आत्मसात् करे। ममता एवं अहंकार का पूर्णरूपेण परित्याग कर देना चाहिए। सभी तरह की आसक्तियों से अलग रहे एवं शम-दम आदि साधनों से संयुक्त हो अपने में ही अन्तरात्मा का दर्शन करे। इस नश्वर संसार में निरन्तर जन्म, मरण एवं वृद्धावस्था आदि विकारों का दर्शन करते रहने से ही उसकी तरफ से त्याग की भावना जाग्रत् हो उठती है तथा जो इस जगत् से विरक्ति को प्राप्त हो गया है, उसी के द्वारा वास्तविक रूप से संन्यास-धर्म स्वीकार करना सम्भव होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले परमहंस योगी को उपनिषदों के सुनने एवं मनन करने आदि के द्वारा साक्षात् मोक्ष के एक मात्र साधन ब्रह्मविज्ञान का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। परमहंस नामक परिव्राजक को ब्रह्मविज्ञान प्राप्त करने के लिए शम-दम आदि समस्त साधनों से सदैव सम्पत्र होना चाहिए। वेदान्तवेत्ता ज्ञानी योगी को हमेशा उपनिषदों के अभ्यास एवं मनन-चिन्तन में ही तल्लीन रहना चाहिए। शम-दम आदि से युक्त होकर मन तथा इन्द्रियों को योगी अपने वश में कर ले। भय का परित्याग कर दे। कहीं व किसी से भी मोह-ममता आदि के भाव न रखे। सदैव निर्द्वन्द्व (चिन्ता रहित) होकर जीवन-निर्वाह करे। परिग्रह को हमेशा के लिए त्याग दे। सिर के बालों का मुण्डन करवा ले। प्राचीन वस्त्रों की कौपीन धारण करे या दिगम्बर (वस्त्र रहित) होकर रहे। अपने मन में मोह-ममता एवं अहंकार आदि को कभी प्रश्रय न दे। जो योगी मित्र एवं शत्रु आदि में समान भाव रखता है, जिसका अतःकरण हमेशा शान्त रहता है, वही एक मात्र ज्ञानवान् पुरुष संसार-सागर से मुक्त हो जाता है, दूसरा अन्य अज्ञानी मुक्त नहीं हो पाता ॥२०-२९॥

गुरुणां च हिते युक्तस्तत्र संवत्सरं वसेत् । नियमेष्वप्रमत्तस्तु यमेषु च सदा भवेत् ॥ ३० ॥

प्राप्य चान्ते ततश्चैव ज्ञानयोगमनुत्तमम् । अविरोधेन धर्मस्य संचरेत्पृथिवीमिमाम् ॥ ३१ ॥

ततः संवत्सरस्यान्ते ज्ञानयोगमनुज्ञम् । आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तश्च परमाश्रमम् ॥ ३२ ॥  
अनुज्ञाप्य गुरुंश्वैव चरेद्विष्टि विमिमाम् । त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥ ३३ ॥

गुरु के हित में सतत संलग्न रहते हुए जिज्ञासु पुरुष को गुरु-आश्रम में एक वर्ष तक निवास करना चाहिए। आश्रम के नियमोपनियमों के पालन में कभी भी आलस्य-प्रमादादि नहीं करना चाहिए एवं ब्रह्मचर्य और अहिंसा आदि यमों के पालन में भी सदैव सतर्क रहना चाहिए। इस तरह से साधना करते हुए गुरु की विशेष कृपा से वर्ष के अन्त में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानयोग को प्राप्त करके धर्मानुकूल सदाचार पूर्वक ब्रह्मचर्य आदि तीनों आश्रमों का विधिवत् सेवन करता हुआ परिव्राजक-संन्यासी पृथ्वी पर विचरण करे। आसक्ति का परित्याग कर क्रोध को अपने वश में कर ले। 'योगी' को स्वल्प आहार ग्रहण करने वाला और वाक् आदि इन्द्रियों पर संयम रखने वाला होना चाहिए॥ ३०-३३ ॥

द्वाविमौ न विरज्येते विपरीतेन कर्मणा । निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्वैव भिक्षुकः ॥ ३४ ॥  
माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति । तस्माददृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ३५ ॥  
संभाषणं सह स्त्रीभिरालापः प्रेक्षणं तथा । नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत् ॥ ३६ ॥  
न स्नानं न जपः पूजा न होमो नैव साधनम् । नाग्निकार्यादिकार्यं च नैतस्यास्तीह नारद ॥ ३७ ॥  
नार्चनं पितृकार्यं च तीर्थयात्रा व्रतानि च । धर्माधर्मादिकं नास्ति न विधिलौकिकी क्रिया ॥ ३८ ॥  
संत्यजेत्सर्वकर्माणि लोकाचारं च सर्वशः । कृमिकीटपतङ्गांश्च तथा योगी वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥  
न नाशयेद्दुधो जीवान्परमार्थमतिर्यतिः । नित्यमन्तर्मुखः स्वच्छः प्रशान्तात्मा स्वपूर्णधीः ॥ ४० ॥  
अन्तःसङ्गपरित्यागी लोके विहर नारद । नाराजके जनपदे चरत्येकचरो मुनिः ॥ ४१ ॥  
निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च । चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥ ४२ ॥  
इत्युपनिषत् ।

निरारम्भ (कामनापूर्वक किसी कार्य का प्रारंभ न करने वाले) गृहस्थ एवं कर्मरत (प्रब्रज्या में सतत सचेष्ट) परिव्राजक इन दोनों की शोभा तभी तक होती है, जब तक कि वे अपने आश्रम धर्म के अनुकूल श्रेष्ठ आचरण करें। मनुष्य मंदिरा-पान करने से मतवाला होता है; किन्तु रूपवान् सुन्दर तरुणी नारी के दर्शन-मात्र से ही उन्मत्त हो उठता है। इस कारण दर्शन मात्र से विष जैसा प्रभाव डालने वाली नारी का परिव्राजक दूर से ही परित्याग कर दे। नारियों के साथ वार्तालाप करना, उनके समक्ष संदेश भेजना, नृत्य-गायन आदि करना, हास-परिहास करना एवं छिद्रान्वेषण करना आदि दुर्गुण परिव्राजक को त्याग देना चाहिए। हे नारद! संन्यासी के लिए [नैमित्तिक] स्नान, देवपूजन, जप, यज्ञ-यागादि कर्म-नहीं करने हैं। उसके लिए तो श्राद्ध-तर्पण, तीर्थों की यात्रा करना, व्रत-उपवास, धर्म-अधर्म और लोकाचार सम्बन्धी कर्म भी आवश्यक नहीं है। योगारुद्ध संन्यासी सभी कर्मों का परित्याग कर दे तथा समस्त लोकाचारों से भी उसे दूर रहना चाहिए। विद्वान् 'योगी' अपनी बुद्धि एवं सामर्थ्य को परमार्थ में लगाकर कृमि, कीट-पतङ्गों तथा वनस्पति आदि प्राणियों को कभी नष्ट न करे। संन्यासी सर्वदा अन्तर्मुखी रहे, बाह्य एवं अन्तः से सदैव अपने को स्वच्छ रखे। अपने अन्तःकरण को पूरी तरह से शान्त रखकर बुद्धि को आत्मानन्द से परिपूर्ण किये रहे। हे नारद! तुम अन्तः से सभी तरह की आसक्तियों का त्याग करके इस जगत् में विचरण करते रहो। 'यति' को एकाकी किसी ऐसे प्रदेश में भ्रमण नहीं करना चाहिए, जहाँ अराजकता फैली हुई हो। संन्यासी को स्तुति एवं नमस्कार आदि से दूर रहना चाहिए। श्राद्ध एवं तर्पण से योगी सदा दूर रहे। किसी सुनसान घर में या पर्वत की गुफा में निवास करे। परिव्राजक को सदैव स्वच्छन्दरूप में सर्वत्र विचरण करना चाहिए। यही उपनिषद् है॥ ३४-४२ ॥

## ॥ सप्तमोपदेशः ॥

अथ यतेनियमः कथमिति पृष्ठं नारदं पितामहः पुरस्कृत्य विरक्तः सन्यो वर्षासु धूवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरन्नैकत्र निवसेद्धिक्षुर्भयात्सारङ्गवदेकत्र न तिष्ठेत्स्वगमननिरोधग्रहणं न कुर्याद्द्व-स्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षारोहणमपि न देवोत्सवदर्शनं कुर्यान्नैकत्राशी न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात्स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्कृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्नाज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनमशुद्धिलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राहादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरदेशं चण्डालवाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राजधानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नं न देहान्तरदर्शनं प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य स्वदेशमुत्सृज्य ज्ञातचरदेशं विहाय विस्मृतपदार्थं पुनः प्राप्तर्षे इव स्वमानन्दमनुस्मरन्स्वशरीराभिमानदेशविस्मरणं मत्वा स्वशरीरं शवमिव हेयमुपगम्य कारागृहविनिर्मुक्तचोरवत्पुत्रासबन्धुभवस्थलं विहाय दूरतो वसेत् ॥ अयत्नेन प्राप्तमाहरन्ब्रह्मप्रणवध्यानानुसन्धानपरो भूत्वा सर्वकर्मनिर्मुक्तः कामक्रोधलोभ-मोहमदमात्सर्यादिकं दग्ध्वा त्रिगुणातीतः षड्गर्भिरहितः षड्भावविकारशून्यः सत्यवाक् शुचिरद्वोही ग्रामैकरात्रं पत्तने पञ्चरात्रं क्षेत्रे पञ्चरात्रं तीर्थे पञ्चरात्रमनिकेतः स्थिरमतिर्नानृतवादी गिरिकन्दरेषु वसेदेक एव द्वौ वा चरेत् ग्रामं त्रिभिर्नगरं चतुर्भिर्ग्राममित्येकश्चरेत् । भिक्षुश्चतुर्दशकरणानां न तत्रावकाशं दद्यादविच्छिन्नज्ञानाद्वैराग्यसंपत्तिमनुभूय मत्तो न कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इत्यात्मन्या-लोच्य सर्वतः स्वरूपमेव पश्यञ्जीवन्मुक्तिमवाप्य प्रारब्धप्रतिभासनाशपर्यन्तं चतुर्विधं स्वरूपं ज्ञात्वा देहपतनपर्यन्तं स्वरूपानुसन्धानेन वसेत् ॥ १ ॥

संन्यासी के सामान्य नियम तथा कुटीचक आदि के विशेष नियम-

इसके पश्चात् देवर्षि नारद जी ने पितामह ब्रह्मा जी से यह प्रश्न किया-हे ब्रह्मन्! संन्यासी के नियम किस प्रकार के हैं? पितामह ब्रह्मा जी ने नारद जी के इस प्रश्न को अपने समक्ष रखते हुए उत्तर देना प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा-हे नारद! संन्यासी विरक्त होकर मात्र चार मासीय वर्षा के दिनों में किसी एक निश्चित क्षेत्र में निवास करे और शेष आठ मास में वह अकेले ही भ्रमण करे। किसी एक स्थान विशेष पर ज्यादा दिनों तक निवास न करे, क्योंकि ऐसा करने से 'यति' के पतित होने का भय रहता है। भ्रमर की तरह से कभी एक स्थल पर न रुके। यदि कोई अन्यत्र जाने का विरोध करे, तो परिव्राजक उस विरोध को न माने। अपने हाथों अर्थात् अपने आप ही नदी तैरकर के पार न हो। वृक्षों पर भी उसे नहीं चढ़ाना चाहिए। देवों के निमित्त होने वाले आयोजनों को नहीं देखना चाहिए। सदैव एक ही घर का भोजन न करे और आत्मा के अतिरिक्त अन्य बाह्य देवगणों का पूजन-अर्चन भी न करे। आत्मा के सिवाय अन्य सभी का परित्याग कर, मधुकरी-वृत्ति से भिक्षा प्राप्त भोजन करे। शरीर को कमजोर बनाकर रखे। देह में मेद (चर्बी) की वृद्धि बिल्कुल न होने दे। घी को रुधिर के समान जानकर परित्याग कर दे। एक ही परिजन के घर के अन्न को मांसवत् जानकर छोड़ देना चाहिए। इत्र अथवा चन्दन आदि के लेप को अपवित्र मल-मूत्रादि के लेप की तरह से मान करके छोड़ देना चाहिए। क्षार (साबुन, सोडा आदि के मुख्य घटक) आदि को चाण्डाल की तरह से जानकर अस्पृश्य माने। चाहिए। क्षार (साबुन, सोडा आदि के मुख्य घटक) आदि को चाण्डाल की तरह से जानकर अस्पृश्य माने। अभ्यङ्ग (तेल आदि की कौपीन आदि के अलावा अन्य वस्त्रों को उच्छिष्ट पात्रों के सदृश समझकर छोड़ दे। अभ्यङ्ग (तेल आदि की

मालिश करने) को स्त्री के आलिङ्गन की तरह मानकर सदैव उससे दूर रहे। मित्रों के आनन्ददायक सङ्ग को मूत्र के सदृश त्याज्य जाने। किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए अपने मन में उत्पन्न होने वाली स्पृहा (इच्छा शक्ति) को अपने लिए गोमांस के सदृश वर्जनीय मानना चाहिए। चिर परिचित एवं प्रिय स्थल को चाण्डाल का बगीचा समझना चाहिए। सुवर्ण को कालकूट के समान, सभास्थल को शमशान भूमि की भाँति, राजधानी को कुम्भीपाक नरक के समान तथा एक जगह के अन्न (भोजन) को मृत व्यक्ति के लिए दिए हुए पिण्ड के समान जानकर त्याग देना चाहिए। शरीर को आत्मा से अलग देखना तथा प्रवृत्तियों में फँसना भी छोड़ देना चाहिए। अपने देश को छोड़कर अपने परिचित स्थलों से सदैव दूर बने रहने का प्रयास करना चाहिए। अपने आनन्दमय स्वरूप का सतत ध्यान करते हुए, इस तरह की प्रसन्नता की अनुभूति करे, जैसे कि कोई विस्मृत हुई कीमती वस्तु पुनः मिल गयी हो। जिस स्थान पर जाने से अपने शरीर में ही आत्माभिमून जाग जाये, जहाँ अपनी देह से सम्बन्ध रखने वाले लोग निवास करते हों, उस स्थान को हमेशा के लिए भूल जाना चाहिए। अपनी इस देह को भी मृत व्यक्ति की तरह से त्याज्य मानते हुए उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार जेलखाने से मुक्त हुआ मनुष्य (चोर) शर्म के कारण अपनी जन्मस्थली पर न जाकर अन्यत्र कहीं दूर जाकर निवास करने लगता है, उसी प्रकार परिव्राजक जहाँ उसके पुत्र और माता-पिता आदि समस्त गुरुजन निवास करते हों, उस स्थल को छोड़कर वहाँ से सदैव के लिए दूर ही अपना निवास-स्थल बनाना चाहिए। बिना प्रयास के ही जो भी कुछ प्राप्त हो जाये, वही आहार (भोजन) ग्रहण कर लेना चाहिए। निरन्तर ब्रह्ममय स्वरूप ३०कार के ध्यान में संलग्न होकर अन्य दूसरे सभी तरह के कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य आदि को जलाकर सत, रज, तम आदि तीन गुणों से परे हो जाना चाहिए। भूख-प्यास आदि छः प्रकार की ऊर्मियों का प्रभाव योगी में नहीं होना चाहिए। जन्म, वृद्धि आदि षड्भाव विकारों से भी अपना सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। सर्वदा सत्यमय वाणी बोले, शरीर एवं मन से पूर्ण पवित्र रहे और किसी भी मनुष्य आदि से द्रोह न करे। ग्राम में एक रात्रि, नगर में पाँच रात्रि, किसी धार्मिक पुण्य स्थली में पाँच रात्रि एवं तीर्थ में भी पाँच रात्रि से ज्यादा नहीं ठहरना चाहिए। परिव्राजक कहीं पर भी अपने लिए घर न बनाये। बुद्धि को सदैव परमात्मा के ध्यान में लगाये रखे। कभी व किसी भी स्थिति में असत्य वाणी न बोले। पर्वत की गुफाओं में अपना निवास बनाये। सदैव एकाकी ही भ्रमण करे। परिव्राजक (चौमासे के समय) वर्षाकालीन चार मास में दो व्यक्तियों को अपने साथ रख सकता है। तीन के साथ रहने पर तो गाँव जैसा ही हो जाता है और चार आदमियों के साथ उस स्थल पर नगर जैसा ही बस जाता है। अतः परिव्राजक एकाकी ही रहे। अपने चौदह करणों (इन्द्रियों) को अलग-अलग विषयों के ध्यान का अवकाश नहीं देना चाहिए एवं अपने से भिन्न अन्य किसी को मान्यता न दे। किसी भी अन्य दूसरे पदार्थ की तनिक भी भावना न करते हुए सभी का अवलोकन अपनी आत्मा के अनुरूप ही करे। अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ जीवन से मुक्ति प्राप्त कर ले। अपने स्वरूप का विवेक हो जाने पर भी जब तक मृत्यु न आ जाये, तब तक अपने स्वरूप का ही ध्यान करता रहे। परिव्राजक का यह परमदायित्व है कि वह अपनी अन्तरात्मा का सम्यक् रूप से चिन्तन करते हुए कालयापन करे॥ १॥

**त्रिष्वणस्नानं कुटीचकस्य बहूदकस्य द्विवारं हंसस्यैकवारं परमहंसस्य मानस्नानं  
तुरीयातीतस्य भस्मस्नानमवधूतस्य वायव्यस्नानम्॥ २॥**

कुटीचक-संन्यासी के लिए तीनों समय (प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल) का स्नान करने का नियम है। बहूदक-संन्यासी प्रातः काल एवं सायंकाल (दो संध्याओं) में स्नान करे। हंस नामक संन्यासी के लिए दिन में केवल एक ही बार स्नान करने का विधान बतलाया गया है। परमहंस नाम वाले संन्यासी को केवल मानसिक स्नान ही करना चाहिए। तुरीयातीत के लिए भस्म-स्नान कहा गया है अर्थात् वह सम्पूर्ण देह में केवल भस्म

(विभूति) ही धारण कर ले और अवधूत नामक संन्यासी के लिए वायव्य स्तान अर्थात् वह सम्पूर्ण देह में वायु के संसर्पण से ही पवित्र हो जाता है। उसको जल-स्तान की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रं कुटीचकस्य त्रिपुण्ड्रं बहूदकस्य ऊर्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं हंसस्य भस्मोद्भूलनं परमहंसस्य तुरीयातीतस्य तिलकपुण्ड्रमवधूतस्य न किंचित्। तुरीयातीतावधूतयोः ॥ ३ ॥

कुटीचक संन्यासी को मस्तक पर ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिए। बहूदक को त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिए, हंस नामक संन्यासी ऊर्ध्वपुण्ड्र अथवा त्रिपुण्ड्र एवं परमहंस नाम वाले संन्यासी को केवल भस्म (विभूति) धारण करनी चाहिए। तुरीयातीत के लिए तिलक पुण्ड्र का नियम बतलाया गया है और अवधूत संन्यासी के लिए किसी भी तरह का विशेष चिह्न आवश्यक नहीं है ॥ ३ ॥

ऋतुक्षौरं कुटीचकस्य ऋतुद्वयक्षौरं बहूदकस्य न क्षौरं हंसस्य परमहंसस्य च न क्षौरम्। अस्ति चेदयनक्षौरं तुरीयातीतावधूतयोर्न क्षौरम् ॥ ४ ॥

कुटीचक संन्यासी को दो-दो मास में क्षौर-कर्म कराना चाहिए। बहूदक को चार-चार मास में क्षौर कर्म करना चाहिए। हंस एवं परमहंस अपनी इच्छानुसार यदि चाहें, तो छः-छः महीने के अन्तराल से क्षौर कर्म करवा सकते हैं। अवधूत तथा तुरीयातीत परिव्राजक के लिए क्षौर-कर्म कराना आवश्यक नहीं है ॥ ४ ॥

कुटीचकस्यैकान्नं माधूकरं बहूदकस्य हंसपरमहंसयोः करपात्रं तुरीयातीतस्य गोमुखं अवधूतस्याजगरवृत्तिः ॥ ५ ॥

कुटीचक के लिए एक ही जगह के अन्न (भोजन) ग्रहण करने का विधान है। बहूदक-संन्यासी को मधुकरी-वृत्ति से अर्थात् भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न ही ग्रहण करना चाहिए। हंस एवं परमहंस के लिए हाथ ही भोजन ग्रहण करने का पात्र होता है। ये संन्यासी कर-पात्री कहलाते हैं। उस (करपात्री) संन्यासी के हाथ में जो कुछ भी आ जाए, उतना ही खा कर संतोष करना चाहिए। तुरीयातीत को गो-मुख वृत्ति अर्थात् उस संन्यासी के मुख में अन्य दूसरा कोई मुनष्य जो कुछ भी फल-फूल दे, उसे गाय के सदृश मुँह फैलाकर ले लेना चाहिए। अवधूत संन्यासी के लिए अजगर वृत्ति अर्थात् ईश्वरेच्छा अथवा दूसरे अन्य लोगों की इच्छानुसार जो कुछ भी मिल जाये, उसी पर संतोष कर लेना चाहिए ॥ ५ ॥

शाटीद्वयं कुटीचकस्य बहूदकस्यैकशाटी हंसस्य खण्डं दिग्म्बरं परमहंसस्य एककौपीनं वा तुरीयातीतावधूतयोर्जातरूपधरत्वं हंसपरमहंसयोरजिनं न त्वन्येषाम् ॥ ६ ॥

कुटीचक को अपने पास दो वस्त्र रखने का नियम है, बहूदक अपने पास केवल एक चादर रखे तथा हंस नामक संन्यासी को वस्त्र का एक टुकड़ा रखने का विधान है। परमहंस दिग्म्बर (वस्त्ररहित) रहे या फिर एक कौपीन मात्र ही स्वीकार करे। तुरीयातीत और अवधूत को तो वस्त्ररहित ही रहने का नियम है। हंस एवं परमहंस के लिए मृग-चर्म धारण करने का नियम है, अन्य संन्यासियों के लिए मृगचर्म अनिवार्य नहीं है ॥ ६ ॥

कुटीचकबहूदकयोर्देवार्चनं हंसपरमहंसयोर्मानसार्चनं तुरीयातीतावधूतयोः सोहंभावना ॥ ७ ॥

कुटीचक एवं बहूदक-परिव्राजकों के लिए प्रत्यक्षरूप में देवताओं के पूजन का नियम है। हंस एवं परमहंस के लिए मानसिक पूजन का अधिकार है। तुरीयातीत और अवधूत के लिए केवल 'सोऽहमस्मि' अर्थात् वह ब्रह्म में स्वयं ही हूँ ऐसी भावना करनी चाहिए ॥ ७ ॥

कुटीचकबहूदकयोर्मन्त्रजपाधिकारो हंसपरमहंसयोर्ध्यानाधिकारस्तुरीयातीतावधूतयोर्न त्वन्याधिकारस्तुरीयातीतावधूतयोर्महावाक्योपदेशाधिकारः परमहंसस्यापि। कुटीचकबहूदक-हंसानां नान्यस्योपदेशाधिकारः ॥ ८ ॥

कुटीचक और बहूदक-योगियों को मंत्रादि के जप का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। हंस एवं परमहंस नामक योगी एकमात्र ध्यान के ही अधिकारी हैं। तुरीयातीत और अवधूत को अपने स्वरूपानुसंधान के अतिरिक्त अन्य किसी भी तरह के कार्य का अधिकार नहीं है। इन तीनों तुरीयातीत, अवधूत एवं परमहंस को ही एक मात्र 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि महावाक्यों के उपदेश का अधिकार है। कुटीचक, बहूदक एवं हंस नामक संन्यासी दूसरे अन्य लोगों को उपदेश प्रदान करने के अधिकारी नहीं हैं ॥ ८ ॥

**कुटीचकबहूदकयोर्मानुषप्रणवः हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः । तुरीयातीतावधूतयोर्ब्रह्मप्रणवः ॥९**

कुटीचक एवं बहूदक को मानुष प्रणव अर्थात् साधारण-बाह्य प्रणव (३० कार) का ध्यान करने का नियम है। हंस और परमहंस को आन्तरिक (मानसिक) प्रणव का तथा तुरीयातीत और अवधूत नामक संन्यासियों को ब्रह्मस्वरूप प्रणव का ध्यान करने का नियम बतलाया गया है ॥ ९ ॥

**कुटीचकबहूदकयोः श्रवणं हंसपरमहंसयोर्मननं तुरीयातीतावधूतयोर्निर्दिध्यासः । सर्वेषामात्मानुसन्धानं विधिरिति ॥ १० ॥**

कुटीचक एवं बहूदक को श्रवण करने का अधिकार प्राप्त है। हंस एवं परमहंस का मुख्य साधन चिन्तन-मनन और तुरीयातीत एवं अवधूत का मुख्य साधन निर्दिध्यासन करना है। इन सभी का एकमात्र लक्ष्य अपनी आत्मा का अनुसंधान करना ही होता है ॥ १० ॥

**एवं मुमुक्षुः सर्वदा संसारतारकं तारकमनुस्मरञ्जीवन्मुक्तो वसेदधिकारविशेषेण कैवल्य-प्राप्त्युपायमन्विष्येद्यतिरित्युपनिषत् ॥ ११ ॥**

इस प्रकार सभी को मुक्ति के लिए सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए और सांसारिक विषय-वासनाओं से मुक्ति दिलाने वाले तारक मंत्र (३० कार) का चिन्तन करते हुए जीवन्मुक्त होकर विचरण करते रहना चाहिए। उसे अधिकार विशेष के आधार पर निरन्तर कैवल्य प्राप्ति के उपाय के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए ॥ ११ ॥

## ॥ अष्टमोपदेशः ॥

अथ हैनं भगवन्तं परमेष्ठिनं नारदः पप्रच्छ संसारतारकं प्रसन्नो ब्रूहीति । तथेति परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे ओमिति ब्रह्मेति व्यष्टिसमष्टिप्रकारेण । का व्यष्टिः का समष्टिः संहारप्रणवः सृष्टिप्रणवश्चान्तर्बहिञ्चोभयात्मकत्वात्रिविधो ब्रह्मप्रणवः । अन्तःप्रणवो व्यावहारिकप्रणवः । ब्रह्मप्रणव आर्षप्रणवः । उभयात्मको विराटप्रणवः । संहारप्रणवो ब्रह्मप्रणवोऽर्धमात्राप्रणवः ॥१ ॥

इसके पश्चात् भगवान् ब्रह्माजी से देवर्षि नारद ने पुनः प्रश्न किया- 'हे भगवन्! जन्म-मरण के चक्र से पार लगाने वाला कौन सा मंत्र है? मैं आपकी शरण में आया हूँ, कृपया बताने का अनुग्रह करें।' भगवान् ब्रह्म जी ने 'तथास्तु' कहकर उपदेश देना शुरू किया। 'हे वत्स नारद! '३०कार' ही तारक मंत्र है, यही ब्रह्म का स्वरूप है। व्यष्टि और समष्टि दोनों तरह से ही ३०कार का ध्यान करना चाहिए। देवर्षि नारद ने पुनः प्रश्न किया- 'पितामह! व्यष्टि और समष्टि का अभिप्राय क्या है? कृपया बताने का अनुग्रह करें। तदनन्तर प्रजापति ब्रह्म जी ने कहा- 'व्यष्टि और समष्टि ब्रह्म-प्रणव के अंग-अवयव हैं। एक ही ब्रह्म-प्रणव के तीन भेद माने जाते हैं- प्रथम संहार-प्रणव, द्वितीय सृष्टि-प्रणव और तृतीय उभयात्मक-प्रणव। उभयात्मक प्रणव के दो रूप अन्तः एवं बाह्य हैं। इस कारण उसे उभयात्मक कहते हैं। अन्तः प्रणव का स्वरूप अगले मंत्र में कहेंगे। उपर्युक्त

ब्रह्म-प्रणव का एक भेद व्यावहारिक प्रणव है। व्यष्टि प्रणव का द्वितीय नाम बाह्य-प्रणव है। इन चारों के अतिरिक्त एक आर्ष-प्रणव भी है। वही विराट् प्रणव के नाम से बतलाया गया है। संहार प्रणव ब्रह्मादि से प्रतिष्ठित होने के कारण ही ब्रह्म-प्रणव कहा गया है। स्थूल आदि भेद से परिपूर्ण अकारादि चार मात्राएँ जिस ३०कार का स्वरूप हैं, उसी मात्रा चतुष्टयात्मक प्रणव को अर्द्धमात्रा प्रणव भी कहा जाता है ॥ १ ॥

**ओमिति ब्रह्म । ओमित्येकाक्षरमन्तःप्रणवं विद्धि । स चाष्टधा भिद्यते । अकारोकारमकारार्धमात्रानादबिन्दुकलाशक्तिश्वेति । तत्र चत्वार अकारश्चायुतावयवान्वित उकारः सहस्रावयवान्वितो मकारः शतावयवोपेतोऽर्धमात्राप्रणवोऽनन्तावयवाकारः । सगुणो विराट् प्रणवः संहारो निर्गुणप्रणव उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवो यथाप्लुतो विराट् प्लुतः संहारः ॥ २ ॥**

अब अन्तः प्रणव के स्वरूप का वर्णन करते हैं। यह प्रणव (३०) ही ब्रह्म है। ‘इस अन्तः प्रणव को ही एकाक्षर रूप मंत्र जानो।’ यह आठ भागों में विभाजित है। इस ३०कार (प्रणव) के अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु, कला और शक्ति ही आठ भेदों के रूप हैं। यह प्रणव मात्र चार-चार मात्राओं से ही संयुक्त नहीं है, उसकी एक-एक मात्रा भी कई-कई भेदों से युक्त है। केवल अकार ही दस सहस्र अंग-अवयवों से परिपूर्ण है। उकार के एक सहस्र तथा मकार के एक सौ अंग हैं। ऐसे ही अर्ध मात्रा-प्रणव भी अनन्त अंग-अवयवों से युक्त है। विराट् प्रणव सगुण एवं संहार प्रणव निर्गुण माना गया है। सृष्टि प्रणव सगुण-निर्गुण दोनों से ही सम्बन्धित है। विराट् प्रणव अकारादि चार मात्राओं की समष्टि वाला कहा गया है और संहार प्रणव प्लुत-प्लुत अर्थात् चतुर्थ मात्राओं से युक्त अर्धमात्रा स्वरूप है ॥ २ ॥

**विराट् प्रणवः षोडशमात्रात्मकः षट्क्रिंशत्तत्वातीतः । षोडशमात्रात्मकत्वं कथमित्युच्यते । अकारः प्रथमोकारो द्वितीया मकारस्तृतीयार्धमात्रा चतुर्थी नादः पञ्चमी बिन्दुः षष्ठी कला सप्तमी कलातीताष्टमी शान्तिर्नवमी शान्त्यतीता दशमी उन्मन्येकादशी मनोन्मनी द्वादशी पुरी त्रयोदशी मध्यमा चतुर्दशी पश्यन्ती पञ्चदशी परा षोडशी पुनश्चतुःषष्ठिमात्रा प्रकृतिपुरुषद्वैविष्यमासाद्याष्टाविंशत्युत्तरभेदमात्रास्वरूपमासाद्य सगुणनिर्गुणत्वमुपेत्यैकोऽपि ब्रह्मप्रणवः ॥ ३ ॥**

विराट् प्रणव सोलह मात्राओं से संयुक्त होता है। इस प्रणव को ३६ प्रकार के तत्त्वों से भी परे कहा गया है। ‘अ’ कार इस ३० कार की प्रथम मात्रा है। ‘उकार’ द्वितीय, मकार तृतीय, चतुर्थ अर्द्धमात्रा, पञ्चम नाद, षष्ठि बिन्दु, सप्तम कला, अष्टम कलातीता, नवम शांति, दशम शान्त्यतीता, एकादश उन्मनी, द्वादश मनोन्मनी, त्रयोदश पुरी (बैखरी), चतुर्दश मध्यमा, पश्यन्ती पञ्चदश परा मात्रा है। यह सोलह मात्राओं से संयुक्त ब्रह्म-प्रणव ओत, अनुज्ञात, अनुज्ञा एवं अविकल्प रूप चतुर्विध तुरीय से भिन्न न होने के कारण फिर से चौसठ मात्राओं से युक्त हो जाता है। यह प्रणव ही प्रकृति एवं पुरुष रूप से पुनः दो भेदों को पाकर एक सौ अट्ठाईस मात्राओं से युक्त स्वरूप को ग्रहण करता है। इस तरह एक होकर भी ब्रह्म-प्रणव दृष्टि-भेद से अनेकविधि साकार एवं निराकार स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

**सर्वाधारः परंज्योतिरेष सर्वेश्वरो विभुः । सर्वदेवमयः सर्वप्रपञ्चाधारगर्भितः ॥ ४ ॥  
सर्वाक्षरमयः कालः सर्वागममयः शिवः । सर्वश्रुत्युत्तमो मृग्यः सकलोपनिषन्मयः ॥ ५ ॥  
भूतं भव्यं भविष्यद्यत्रिकालोदितमव्ययम् । तदप्योकारमेवायं विद्धि मोक्षप्रदायकम् ॥ ६ ॥  
तमेवात्मानमित्येतद्ब्रह्मशब्देन वर्णितम् । तदेकममृतमजरमनुभूय तथोमिति ॥ ७ ॥  
सशरीरं समारोप्य तन्मयत्वं तथोमिति । त्रिशरीरं तमात्मानं परं ब्रह्म विनिश्चिनु ॥ ८ ॥**

(३०कार रूप प्रणव को परब्रह्म स्वरूप कहा गया है। वह अविनाशी ब्रह्म कैसा है? इसका वर्णन करते हैं।) ब्रह्म-३०कार रूप अविनाशी परमात्मतत्त्व सबका आश्रयभूत एवं परम प्रकाशस्वरूप है। यह ३० कार ही समस्त प्राणियों का ईश्वर एवं सर्वत्र व्यापक है। समस्त देवगण इन्हीं के प्रतिरूप हैं। सभी तरह के प्रपञ्चों का आधार प्रकृति भी इन्हीं के गर्भ में है। ये प्रणव ही सर्वाक्षर (वर्णमाला के पचास वर्ण एवं उनके माध्यम से बोध्य अर्थ आदि) स्वरूप हैं। ये कालरूप, सभी शास्त्रों से युक्त एवं कल्याण स्वरूप हैं। समस्त श्रुतियों में श्रेष्ठतत्त्व पुरुषोत्तमरूप से इनका ही निरन्तर अनुसंधान करना चाहिए। सभी उपनिषदों के वाच्यार्थ यही हैं। यही सर्व कालरूप हैं तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् युक्त त्रिकालात्मक जगत् और तीनों भुवनों से भी ऊपर जो शाश्वत तत्त्व है, वह सभी कुछ इस ओंकार का ही प्रतिरूप है। इस ओंकार को ही मुक्ति प्रदान करने वाला मानना चाहिए। इस ३० कार का अर्थ भूत अविनाशी परब्रह्म ही आत्मरूप है। उस ब्रह्म का अन्तरात्मा के साथ प्रणव के वाच्यार्थरूप से एकीभाव करके वही एकमात्र (अद्वितीय, अनुपम), मृत्युरहित एवं अमृतरूप अविनाशी तत्त्व '३०' है, ऐसा अनुभव करना चाहिए। इस अनुभव के बाद उस परमात्मारूप ३० कार में स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों वाले इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च का आरोप करे (अर्थात् एक मात्र परमात्मा ही सत्यरूप है, ऐसा अनुभव करना चाहिए)। इसी प्रकार आत्मा एवं परमात्मा में दृढ़ एकभाव प्रतिष्ठित करके आत्मस्वरूप परब्रह्म का ध्यान करते हुए सतत अभ्यास करते रहना चाहिए॥ ४-८॥

परं ब्रह्मानुसंदध्याद्विश्वादीनां क्रमः क्रमात्। स्थूलत्वात्स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्म भुक् परम्॥९  
ऐक्यत्वानन्दभोगाच्च सोऽयमात्मा चतुर्विधः। चतुष्पाञ्चागरितः स्थूलः स्थूलप्रज्ञो हि विश्वभुक्॥  
एकोनविंशतिमुखः साष्टाङ्गः सर्वगः प्रभुः। स्थूलभुक् चतुरात्माथ विश्वो वैश्वानरः पुमान्॥११॥  
विश्वजित्प्रथमः पादः स्वप्रस्थानगतः प्रभुः। सूक्ष्मप्रज्ञः स्वतोऽष्टाङ्गः एको नान्यः परंतपः॥१२॥  
सूक्ष्मभुक् चतुरात्माथ तैजसो भूतराडयम्। हिरण्यगर्भः स्थूलोऽन्तर्द्वितीयः पाद उच्यते॥१३॥  
कामं कामयते यावद्यत्र सुप्तो न कंचन। स्वप्नं पश्यति नैवात्र तत्पुषुपमपि स्फुटम्॥१४॥  
एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनवान्सुखी। नित्यानन्दमयोऽप्यात्मा सर्वजीवान्तरस्थितः॥१५॥  
तथाप्यानन्दभुक् चेतोमुखः सर्वगतोऽव्ययः। चतुरात्मेश्वरः प्राज्ञस्तृतीयः पादसंज्ञितः॥१६॥

अब क्रमानुसार विश्व, तैजस आदि के वाचक प्रणव की मात्राओं के क्रम का वर्णन किया जा रहा है। स्थूल अर्थात् विराट् जगद्रूप एवं उसका भोक्ता तथा सूक्ष्म जगद्रूप सूक्ष्म जगत् का उपभोक्ता होने के कारण एकमात्र आनन्दस्वरूप तथा आनन्द मात्र का उपभोक्ता होने के कारण इन तीनों की अपेक्षा भी विशेष लक्षणों से युक्त होने के कारण वह आत्मा चार भेदों वाला है। यह चार पाद ही उसके चार भेद हैं, इस कारण वह पादों से संयुक्त है। जाग्रत्-अवस्था एवं उससे उपलक्षित होने वाला यह जगत् ही जिनका शरीर है, जो पूरे विश्व में व्याप्त हो रहे हैं, जिनका विवेक इस स्थूल जगत् में चतुर्दिक् फैला है, जो इस समस्त जगत् के रक्षक हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा चार अन्तःकरण आदि ये सभी उत्तीर्ण समष्टि कारण ही जिनके मुख हैं, आठ लोक, (पाताल, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्यम्) ही जिनके अवयव हैं। जो इस स्थूल जगत् के उपभोक्ता हैं। जिनकी स्थूल, सूक्ष्म, कारण एवं साक्षी रूप में अभिव्यक्ति होती है, वही सर्वव्यापी अखिल विश्वरूप वैश्वानर पुरुष ही परब्रह्म के प्रथम पाद कहे गये हैं। चारों अवस्थाओं में से स्वप्नावस्था तथा उस अवस्था के द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत् में व्याप्त परब्रह्म सूक्ष्मप्रज्ञ हैं। उनका विज्ञान स्थूल जगत् की अपेक्षा सूक्ष्म जगत् में व्याप्त हो रहा है। स्वयं वे ही पूर्व में कहे हुए आठ अङ्गों से सम्पन्न हैं। काम, क्रोधादि समस्त रिपुओं को तस करने में समर्थ हे नारद! वे स्वप्नलोक में एकाकी ही हैं, उनके अतिरिक्त अन्य दूसरा कोई नहीं

है। वे सूक्ष्म जगत् के सूक्ष्म तत्त्वों की अनुभूति एवं पालन करने वाले हैं। उनके भी पूर्व की भाँति स्थूल-सूक्ष्मादि भेद से युक्त चार स्वरूप हैं। उन्हें ही तैजस पुरुष कहते हैं; क्योंकि वे तैजस्वरूप एवं प्रकाश के स्वामी हैं। वे सभी प्राणियों के स्वामी हिरण्यगर्भ हैं, पूर्व में कहे हुए वैश्वानर तो स्थूल हैं; किन्तु अन्तः प्रदेश में प्रतिष्ठित होने के कारण हिरण्यगर्भ सूक्ष्म कहे गये हैं। इन्हें परब्रह्म परमात्मा का द्वितीय पाद कहा जाता है। सुषुप्तावस्था में स्थित पुरुष किसी भी तरह का स्वप्न नहीं देखता और न ही किसी भोग की कामना करता है। इस प्रकार की सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण विश्व की प्रलयावस्था ही जिनका शरीर है, अर्थात् समष्टि कारणतत्त्व में जिनकी स्थिति है, जो एकीभूत (अनुपम) हैं, जिनकी अभी विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति नहीं हुई है, जो घनीभूत प्रज्ञान से सम्पन्न हैं, आनन्दमय हैं, नित्यानन्द स्वरूप हैं, समस्त प्राणियों के अन्तः में विद्यमान अन्तर्यामी आत्मा हैं तथा अपने स्वरूपभूत आनन्द मात्र का उपभोग करने में समर्थ हैं, चिन्मय प्रकाश ही जिन परमात्मा का मुख है, जो सर्वत्र व्याप्त एवं शाश्वत है, ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा एवं अविकल्प आदि इन व्यारों रूपों में जिनकी अभिव्यक्ति है, वे ईश्वर ही प्राज्ञ नाम से परमात्मा के द्वितीय पाद के रूप में जाने जाते हैं॥१-१६॥

**एष सर्वेश्वरश्चैष सर्वज्ञः सूक्ष्मभावनः। एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ॥१७॥**

**भूतानां त्रयमप्येतत्सर्वोपरमबाधकम्। तत्सुषुप्तं हि यत्स्वप्नं मायामात्रं प्रकीर्तितम्॥१८॥**

ये परब्रह्म ही समस्त स्थावर-जंगम, भूत-प्राणियों के स्वामी हैं। ये सभी कुछ, जानने में समर्थ हैं। सूक्ष्मरूप से चिन्तन करने योग्य परब्रह्म ही सबके अन्तर्यामी एवं आत्मस्वरूप हैं। सम्पूर्ण जगत् के कारणरूप हैं तथा समस्त भूत-प्राणियों की उत्पत्ति, पालन एवं विनाश के स्थल भी यही हैं। जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में परिलक्षित होने वाला यह संसार भी सुषुप्ति रूप ही है। यह सभी प्रकार की उपरति में अवरोधक ही बना रहता है। इसी तरह यह त्रिविध जगत् स्वप्ररूप ही है; क्योंकि यहाँ पर वस्तु का प्रायः विपरीत ज्ञान ही होता है। इतना ही नहीं, यहाँ पर हर वस्तु कुछ की कुछ दिखाई पड़ने के कारण स्वप्रवत् मायामय ही है॥१७-१८॥

**चतुर्थश्वतुरात्मापि सच्चिदेकरसो ह्यायम्। तुरीयावसितत्वाच्च एकैकत्वानुसारतः॥१९॥**

**ओतानुज्ञात्रनुज्ञातृविकल्पज्ञानसाधनम्। विकल्पत्रयमत्रापि सुषुप्तं स्वप्रमात्तरम्। मायामात्रं विदित्वैवं सच्चिदेकरसो ह्यथ॥२०॥**

उपर्युक्त त्रिपादों के अतिरिक्त चतुर्थ पाद तुरीय है। वह इन चार भेदों-ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा एवं अविकल्प के कारण चार रूपों से युक्त है। उसे तुरीयपाद कहा गया है, यही सच्चिदानन्दमय है-इसके चारों भेद तुरीय ही कहे गये हैं, क्योंकि प्रत्येक रूप का तुरीय में ही पर्यवसान (विलय) होता है। इस चतुर्थ तुरीयपाद में भी जो ओत, अनुज्ञातृ एवं अनुज्ञारूप तीन प्रकार के भेद हैं, वे विकल्प-ज्ञान के साधन रूप हैं। अतः इन तीन विकल्पों को भी यहाँ पर पहले की भाँति सुषुप्ति एवं मनोमय स्वप्रवत् मायामय ही जानना चाहिए। ऐसा समझकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि इन भेदों से परे जो निर्विकल्परूप तुरीय-तुरीय परब्रह्म ही एकमात्र सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। ऐसा निश्चय कर लेना ही श्रेयस्कर है॥१९-२०॥

**विभक्तो ह्यायमादेशो न स्थूलप्रज्ञमन्वहम्। न सूक्ष्मप्रज्ञमत्यन्तं न प्रज्ञं न क्रचिन्मुने॥२१॥**

**नैवाप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञमान्तरम्। नाप्रज्ञमपि न प्रज्ञाधनं चादृष्टमेव च॥२२॥** तदलक्षणमग्राह्यं  
यदव्यवहार्यमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते।  
**स ब्रह्मप्रणवः स विज्ञेयो नापरस्तुरीयः सर्वत्र भानुवन्मुक्षूणामाधारः स्वयंज्योतिर्ब्रह्माकाशः**  
**सर्वदा विराजते परंब्रह्मत्वादित्युपनिषत्॥२३॥**

इसके पश्चात् पुनः ब्रह्मा जी ने कहा- 'हे नारद! श्रुति का यह स्पष्ट आदेश है कि जो सदैव न तो स्थूलज

है, न सूक्ष्म का ही ज्ञाता है और न ही दोनों का ज्ञाता है, जो न तो सर्वाधिक जानने वाला है और न ही बिल्कुल जानने वाला है, न अन्तःप्रज्ञ अर्थात् अन्तः का ज्ञान रखने वाला है और न ही बहिः प्रज्ञ (स्थूल जगत् का) ज्ञान रखने वाला है, जिसे नेत्रों से नहीं देखा जा सकता (क्योंकि उसका कोई रूप नहीं है), जो कभी पकड़ में नहीं आ सकता और न ही व्यवहार में लाया जा सकता है। जो अचिन्त्य है, जिसे किसी परिभाषा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। एकमात्र आत्मसत्ता की प्रतीति ही जिसका सार अथवा स्वरूप है, जिसमें प्रपञ्च (माया) का अभाव है। ऐसा परम कल्याणकारी शान्त-अद्वितीय तत्त्व ही उन पूर्ण परब्रह्म का चतुर्थ पाद है, ऐसा ज्ञानीजन मानते हैं। वह ब्रह्म-प्रणव है; वही जानने और समझने के योग्य है, दूसरा नहीं। सभी को प्रकाश देने वाला सूर्य के सदृश वही मुमुक्षुजनों का एकमात्र जीवन रक्षक है। स्वयं प्रकाश परम ब्रह्म आकाश रूप है। परम ब्रह्म होने के कारण ही वह सदैव सर्वत्र विद्यमान है। यही उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) है ॥ २१-२३ ॥

## ॥ नवमोपदेशः ॥

अथ ब्रह्मस्वरूपं कथमिति नारदः पप्रच्छ । तं होवाच पितामहः किं ब्रह्मस्वरूपमिति ।  
अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति ये विदुस्ते पश्वो न स्वभावपश्वस्तमेवं ज्ञात्वा विद्वान्मृत्युमुखात्य-  
मुच्यते नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १ ॥

इसके पश्चात् नारद जी ने पुनः प्रश्न किया- 'हे भगवन्! ब्रह्म का स्वरूप कैसा है, कृपा करके बताने का अनुग्रह करें? ऐसा श्रवण कर पितामह ब्रह्मा जी ने कहा- हे वत्स नारद! ब्रह्म और क्या है, अपना निजस्वरूप आत्मा ही तो ब्रह्म है। ब्रह्म दूसरा और मैं दूसरा हूँ- ऐसा जो भी लोग समझते हैं, वे पशुवत् हैं, जो स्वभाववश पशुयोनि में ही प्रादुर्भूत हुए हैं, उन्हीं का नाम पशु है। उन परम प्रभु परमेश्वर को जो ज्ञानी पुरुष इस तरह सर्वात्मा एवं सर्वरूपमय जानता है, वह सदा के लिए मृत्यु के मुख से छूट जाता है। एकमात्र परमात्मसत्ता का सद्ज्ञान ही है, जो मुक्ति (मोक्ष) प्रदान करने में सर्वसमर्थ है ॥ १ ॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।

संयोग एषां न त्वात्मभावादात्मा ह्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निर्गूढाम् ।

यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ ३ ॥

तमेकस्मिंस्त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्थारं विंशतिप्रत्यराभिः ।

अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥

पञ्चस्त्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मि पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।

पञ्चावर्ता पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्देदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥

(परमात्म विषयक परस्पर चर्चा करने वाले कुछ जिज्ञासु जन कहते हैं कि) 'क्या काल, स्वभाव, निश्चित ही फल प्रदान करने वाला कर्म, आकस्मिक घटना, पाँचों महाभूत अथवा जीवात्मा (इस जगत् का) कारण रूप है? इस विषय पर चिन्तन करना चाहिए। काल आदि का समूह भी इस नश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि यह चैतन्य आत्मा के आश्रित है। जीवात्मा भी इस नाशवान् जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह सुख-दुःख के कारणभूत प्रारब्ध-कर्म के आश्रित है। ऐसा विचार करते हुए उन्होंने ध्यानावस्था में

प्रतिष्ठित होकर अपने गुणों से आवृत उन परब्रह्म की स्वरूपभूता अचिन्त्य शक्ति का साक्षात्कार किया, जो परब्रह्म अकेले ही काल से लेकर आत्मा तक अर्थात् पूर्व में कहे हुए सभी कारणों पर शासन करते हैं। उस एक नेमि वाले, तीन घेरों से युक्त, षोडश शिरों से संयुक्त, पचास अरों से परिपूर्ण, बीस सहयोगी अरों से युक्त एवं छः अष्टकों से पूर्ण, अनेक रूपों वाले एक ही पाश से संयुक्त, मार्ग के तीन भेदों से युक्त तथा दो निमित्त एवं मोह-रूपी एक नाभि (केन्द्र) से युक्त चक्र को उन जिज्ञासु जनों ने देखा। यहाँ विश्व व्यवस्था को एक चक्र (पहिए) के रूप में वर्णित किया गया है। नेमिचक्र को बाँधे रखने वाली एक परिधि (प्रकृति) तथा तीन वृत्तीन गुण (सत, रज, तम) हैं। परिधि के अन्त-सिरे का जोड़ सोलह कलाएँ हैं, प्रश्रोपनिषद् के छठे प्रश्न के अन्तर्गत चौथे एवं पाँचवें मन्त्र में इनका वर्णन है। ५० अरे (विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि आदि ५० प्रत्यय) अन्तःकरण की वृत्तियों के ५० भेद तथा २० सहायक अरे (१० इन्द्रियाँ, ५ विषय एवं ५ प्राण) कहे गये हैं। चक्र में अष्टक किसे कहा गया है, यह स्पष्ट नहीं है। इन छः के आठ-आठ भेद कहे गए हैं—प्रकृति शरीरगत धातु, सिद्धियाँ, भय, देव योनियाँ तथा विशिष्ट गुण तीन मार्ग-धर्म, अधर्म एवं ज्ञान मार्ग तथा दो निमित्त-पाप और पुण्य कर्म हैं। यह सब मोहरूपी नाभिक को केन्द्र मानकर धूम रहे हैं। पाँच स्रोतों से निःसृत होने वाले विषय रूपी जल से परिपूर्ण, पाँच स्थलों से प्रादुर्भूत होकर भय प्रदान करने वाली एवं तिर्यक् चाल से गमन करने वाली, पाँच दुःख रूपी प्रवाह के वेग से संयुक्त, पाँच पर्ती वाली तथा पचास भेदों से परिपूर्ण नदी को हम सभी लोग जानते हैं ॥ ५ ॥

[ ऋषि ने यहाँ विश्व प्रवाह को नदी के रूप में वर्णित किया है। ५ धराण, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ उद्गम, ५ तत्त्व, ५ प्राण की तरंगें, ५ भूँवरें, ५ तन्मात्राएँ, ५ दुःख-गर्भ, जन्म, रोग, जरा और मृत्यु हैं। ५ विभाग-अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष और भय हैं। अन्तःकरण की ५० वृत्तियाँ उसके भेद हैं। उक्त दोनों उपमाओं की विस्तृत व्याख्या आचार्य शंकर के भाष्य में देखी जा सकती है । ]

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे । पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥ उद्गीथमेतत्परमं तु ब्रह्मा तस्मिंस्त्रियं स्वप्रतिष्ठाक्षरं च । अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीनाः परे ब्रह्मणि तत्परायणाः ॥ ७ ॥ संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः । अनीशश्वात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥ ज्ञानौ द्वावजावीशानीशावजा होका भोक्तृभोगार्थयुक्ता । अनन्तश्वात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्म ह्येतत् ॥ ९ ॥ क्षरं प्रथानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः । तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्वान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ १० ॥

समस्त प्राणियों के आश्रयभूत एवं जीविका स्वरूप इस विशाल ब्रह्मचक्र में जीवात्मा को भ्रमण कराया जाता है। वह स्वयं अपने-आपको एवं सभी के प्रेरणास्रोत परमात्मा को पृथक्-पृथक् जानकर उसके पश्चात् उन परब्रह्म से स्वीकृत होकर अमृत भाव को प्राप्त कर लेता है। वेद में कहे हुए ये परमात्मा ही सर्वश्रेष्ठ आश्रयभूत एवं शाश्वत अविनाशी हैं। उन परमात्म देव में तीनों लोक सन्त्रिहित हैं। वेद के तत्त्वज्ञ महापुरुष यहाँ एवं अव्यक्त रूप में प्रतिष्ठित उन परमात्मदेव को जानकर उन्हीं में आश्रित होकर, उन आदिदेव (हृदय क्षेत्र में) अन्तर्यामी स्वरूप में प्रतिष्ठित उन परमात्मदेव को जानकर उन्हीं में आश्रित होकर, उन आदिदेव में ही विलीन हो गये। सतत विनाश युक्त जड़वर्ग एवं अविनाशी जीवात्मा तथा इन दोनों के संयुक्त रूप व्यक्त एवं अव्यक्त रूप इस जगत् का परब्रह्म ही धारण तथा पोषण करते हैं और जीवात्मा इस जगत् के विषय-भोगों का भोक्ता होने के कारण प्रकृति के अधीन होकर इसमें आबद्ध हो जाता है और उन परमात्मदेव को जानकर सभी तरह के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। सर्वज्ञ एवं अज्ञानी, सर्वसमर्थ एवं सामर्थ्यरहित ये दो ही

जन्मरहित शाश्वत आत्मा हैं तथा भोगभोगने वाले जीवात्मा के लिए उपयुक्त भोग्य सामग्री से संयुक्त अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति के रूप में है। वे परमात्मदेव अन्तरहित, सम्पूर्ण रूपों से युक्त एवं कर्त्तापन के अभिमान से रहित हैं। जब मनुष्य इस तरह ईश्वर, जीव एवं प्रकृति-इन तीनों को ब्रह्म के रूप में प्राप्त कर लेता है, तो वह सभी तरह के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। प्रकृति तो विनाशशील है और इसका भोक्ता जीवात्मा अमृतरूप अविनाशी है। इस विनाशशील जड़तत्त्व एवं चेतन आत्मा दोनों को एक ही ईश्वर अपने विशेष निर्देशन में रखते हैं। इस तरह से उन परमेश्वर का सदैव चिन्तन करते रहने से, मन को उन्हीं में लगाये रहने से तथा तन्मय हो जाने से मनुष्य अन्त में उन्हें प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर सभी प्रकार की माया (प्रपञ्च) की निवृत्ति हो जाती है ॥ ६-१० ॥

**ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः । तस्याभिध्यानात्रितयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आसकामः ॥ ११ ॥ एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् । भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म ह्येतत् ॥ १२ ॥ आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ १३ ॥**

उन परमात्म स्वरूप का सतत चिन्तन करने मात्र से, उन प्रकाश स्वरूप परब्रह्म को ध्यान के द्वारा जानकर मनुष्य सभी तरह के बन्धनों से मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है; क्योंकि क्लेशादि विकारों का शमन हो जाने के पश्चात् जन्म-मरण का सर्वथा अभाव ही हो जाता है। इस कारण से वह देह के नष्ट होने पर तृतीय लोक अर्थात् स्वर्गलोक तक के सभी तरह के ऐश्वर्यों का परित्याग करके सर्वथा विशुद्ध तथा आसकाम हो जाता है। अपने ही अन्दर प्रतिष्ठित इन ब्रह्मदेव को सर्वदा जानना चाहिए। इनसे उत्कृष्ट स्मरण करने योग्य तत्त्व दूसरा और कुछ भी नहीं है। भोक्ता अर्थात् जीवात्मा, भोग्य अर्थात् जड़वर्ग एवं उनके प्रेरणास्रोत परब्रह्म को जानकर पुरुष सभी कुछ जान लेता है। इस प्रकार इन तीन भेदों में वर्णित यह सब कुछ ब्रह्ममय ही है। आत्मविद्या एवं तप ही जिस की प्राप्ति के मुख्य स्रोत (साधन) हैं, वह उपनिषदों में वर्णित श्रेष्ठ तत्त्व ही परम ईश्वर है अर्थात् दृष्टि भेद द्वारा वह ब्रह्म द्विविध अथवा त्रिविध कहा जाता है, किन्तु यथार्थ में भेद-दृष्टि अज्ञान मूलक है। इस कारण वह समस्त रूपों में एक ही परमात्मदेव विद्यमान है ॥ ११-१३ ॥

**य एवं विदित्वा स्वरूपमेवानुचिन्तयंस्तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः । तस्माद्विराङ्भूतं भव्यं भविष्यद्वत्यनश्वरस्वरूपम् ॥ १४ ॥ अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ १५ ॥ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम् ॥ १६ ॥ अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ १७ ॥ सर्वस्य धातारमचिन्त्यशक्तिं सर्वागमान्तार्थविशेषवेद्यम् । परात्परं परमं वेदितव्यं सर्वावसानेऽन्तकृद्वेदितव्यम् ॥ १८ ॥**

जो मनुष्य इस तरह से जानकर सतत अपने स्वरूपमय परब्रह्म का ही ध्यान करता रहता है, उस समदर्शी ब्रह्मज्ञानी को वहाँ क्या शोक है और क्या मोह? इसलिए भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान आदि इन तीनों कालों में प्रादुर्भूत होने वाला यह विराट् संसार ही अविनाशी ब्रह्ममय है। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं महान् (बृहत्) से भी परम महान् (अति बृहत्) परब्रह्म इस प्राणी के हृदय रूपी गुहा में विद्यमान है। सबकी सृष्टि एवं सुरक्षा करने वाले परमात्मा की विशेष अनुकम्पा से जो पुरुष उस संकल्प विहीन परम ईश्वर का और उसकी महान्

महिमा का भी अवलोकन कर लेता है, वह सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है। वह परमेश्वर हाथ-पैर आदि से रहित होते हुए भी सभी प्रकार की वस्तुओं को प्राप्त कर लेने वाला है और शीघ्रतापूर्वक यत्र-तत्र-सर्वत्र गमन करने वाला है। नेत्र विहीन होते हुए भी सभी कुछ देखने में समर्थ है। कानों (कर्णों) से रहित होते हुए भी सभी कुछ श्रवण करने में सक्षम है। वह जानकारी प्राप्त होने वाली सभी प्रकार की वस्तुओं को जानता है, किन्तु उस महान् ईश्वर को जानने वाला कोई भी नहीं है। विद्वान् मनुष्य उसे प्राचीन एवं महान् पुरुष (पुरुषोत्तम, पुरुष श्रेष्ठ) आदि कहते हैं। जो इन नाशवान् शरीरों में नित्य एवं देहरहित होकर भी प्रतिष्ठित है। उस सर्वत्र व्याप्त महान् परमेश्वर को जान लेने पर धैर्यवान् पुरुष कभी शोकाकुल नहीं होता। वह समस्त भूत-प्राणियों का धारण-पोषण करने वाला है। उस परमेश्वर की अघटित-घटना-पटीयसी शक्ति अचिन्त्य है, समस्त शास्त्रों के सिद्धान्त रूप से स्वीकृत अर्थ विशेष-परब्रह्म के रूप में वही जानने योग्य है। परात्पर परब्रह्म के रूप में भी वही ज्ञातव्य है एवं सभी के अवसान में अर्थात् समस्त विश्व के प्रलय होने पर सबके संहार के रूप में उसी श्रेष्ठ प्रभु को जानना चाहिए॥ १४-१८॥

कविं पुराणं पुरुषोत्तमोत्तमं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् । अनादिमध्यान्तमनन्तमव्ययं  
शिवाच्युताभ्योरुहगर्भभूधरम् ॥ १९ ॥ स्वेनावृतं सर्वमिदं प्रपञ्चं पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानम् ।  
पञ्चीकृतानन्तभवप्रपञ्चं पञ्चीकृतस्वावयवैरसंवृतम् । परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजो-  
मयशाश्वतं शिवम् ॥ २० ॥ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि  
प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २१ ॥ नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न स्थूलं नास्थूलं न ज्ञानं नाज्ञानं नोभयतः  
प्रज्ञमग्राह्यमव्यवहार्य स्वान्तःस्थितः स्वयमेवेति य एवं वेद स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्याह  
भगवान्प्रितामहः ॥ २२ ॥

वह कवि, जो त्रिकाल को जानने वाला है, पुराण पुरुष, सर्वोत्तम एवं पुरुष श्रेष्ठ है। वही सबका परमेश्वर तथा देवों के द्वारा उपासनीय है। आदि, मध्य एवं अन्त से परे है, वह कभी विनष्ट नहीं होता। वही शिव, विष्णु एवं कमल से प्रादुर्भूत होने वाले ब्रह्मारूपी वृक्षों को उत्पन्न करने वाला महान् पर्वत है। जो पञ्चभूतों से युक्त है और पाँच इन्द्रियों में स्थित रहता है, जिसने अनन्त जन्मों के विस्तार की परम्परा अभिवर्द्धित कर रखी है, इस समस्त प्रपञ्च को उस परमात्मा ने पञ्चमहाभूतों के रूप में प्रादुर्भूत किये हुए अपने ही अंगों द्वारा स्वयं ही फैला रखा है; फिर भी वह स्वयं पञ्चभूतों से युक्त अंगों से ढका नहीं है। वह पर से परे और महान् से भी महान् है। वह अपने स्वरूपानुसार स्वतः स्वरूप है, सनातन एवं कल्याणमय है। जो दुराचार से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्तरहित अर्थात् अपने वश में नहीं हैं, जो स्थिर चित्त नहीं हुआ है तथा जिसका मन पूर्णरूपेण शान्त नहीं हो सका है, वह इन परमात्म स्वरूप को श्रेष्ठ, पवित्र ज्ञान के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकता है। वह पूर्ण परमेश्वर न अन्तःप्रज्ञ है, न बाह्य प्रज्ञ है, वह न स्थूल है और न ही सूक्ष्म है। वह न ज्ञानस्वरूप है और न ही वह अज्ञानी है। वह मनुष्य की पकड़ से परे तथा व्यवहार का विषय नहीं है। वह अपने अन्दर स्वयं ही विद्यमान है। जो ज्ञानी पुरुष उस अनादि परमेश्वर को इस प्रकार से जानता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, वह मुक्त हो जाता है। ऐसा उपदेश पितामह ब्रह्माजी ने देवर्षि नारद को प्रदान किया॥ १९-२२॥

स्वस्वरूपज्ञः परिव्राट् परिव्राडेकाकी चरति भयत्रस्तसारङ्गवत्तिष्ठति । गमनविरोधं न  
करोति । स्वशरीरव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा षट् पदवृत्त्या स्थित्वा स्वरूपानुसन्धानं  
कुर्वन्सर्वमनन्यबुद्ध्या स्वस्मिन्नेव मुक्तो भवति । स परिव्राट् सर्वक्रियाकारकनिवर्तको

गुरुशिष्यशास्त्रादिविनिर्मुक्तः सर्वसंसारं विसृज्य चामोहितः परिव्राट् कथं निर्धनिकः सुखी धनवाज्ञानाज्ञानोभयातीतः सुखदुःखातीतः स्वयंज्योतिः प्रकाशः सर्ववेद्यः सर्वज्ञः सर्वसिद्धिदः सर्वेश्वरः सोऽहमिति । तद्विष्णोः परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः । सूर्यो न तत्र भाति न शशाङ्कोऽपि न स पुनरावर्तते तत्कैवल्यमित्युपनिषत् ॥ २३ ॥

जो परिव्राजक अपने निज स्वरूप को जान लेता है, वह अकेले ही विचरण करता है । वह 'यति' डरे हुए हरिण के सदृश कभी एक स्थल पर नहीं रुकता । इधर-उधर जाने के लिए यदि कोई विरोध अथवा न जाने का आग्रह करता है, तो उसे वह कभी स्वीकार नहीं करता । अपनी देह के अतिरिक्त अन्य समस्त तरह की वस्तुओं का परित्याग करके वह मधुकरी-वृत्ति से भिक्षा प्राप्त करता है । सदैव अपने निज रूप का ध्यान करते हुए उसकी सभी के प्रति अनन्य बुद्धि हो जाती है । वह समस्त प्राणियों को अपने आत्मारूप में ही समझने लगता है तथा इस तरह से वह यति अपने-आप में ही प्रतिष्ठित होकर सभी तरह के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है । वह संन्यासी समस्त क्रियाओं एवं कारकों से भेद-बुद्धि का परित्याग कर देता है । गुरु, शिष्य एवं शास्त्र आदि की त्रिपुटी से भी वह मुक्त हो जाता है । सम्पूर्ण जगत् का परित्याग करके वह कभी उसके दुःख से विचलित नहीं होता है । परिव्राजक का आचरण किस तरह का हो? (इसके उत्तर में बताते हैं कि) वह लौकिक धन से विहीन होते हुए भी सर्वदा सुखी रहता है । वह ब्रह्मात्म-ज्ञान स्वरूप धन से परिपूर्ण होकर ज्ञान-अज्ञान दोनों से ऊपर उठ जाता है । सुख एवं दुःख दोनों से परे हो जाता है । वह 'यति' आत्म ज्योति से ही प्रकाश प्राप्त करता है । सभी जानने योग्य पदार्थ उसे ज्ञात हो जाते हैं । वह सब कुछ जानने में समर्थ, सभी सिद्धियों का प्रदाता एवं सभी का ईश्वर हो जाता है; क्योंकि 'सोऽहम्' (वह ब्रह्म मैं हूँ) इस महावाक्य के उपदेश में उसकी सहज उपस्थिति हो जाती है । वह परमेश्वर ही भगवान् विष्णु का परम शाश्वत धाम है, जहाँ पर जाकर योगी पुरुष वापस इस नश्वर जगत् में नहीं आते । वहाँ उस विष्णुधाम में न तो सूर्य प्रकाशित होता है और न ही चन्द्रमा अपना प्रकाश देता है । उस परम अविनाशी महान् पद को प्राप्त करने वाला वह महात्मा पुरुष इस नश्वर जगत् में पुनः वापस नहीं आता । वही एक मात्र परम कैवल्य पद है । ऐसा ही है यह उपनिषद् ॥ २३ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति नारदपरिव्राजकोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ निर्वाणोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसमें जीवन के परमलक्ष्य तथा आवागमन से मुक्त होने के साथनभूत 'निर्वाण' के विषय में विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इस उपनिषद् में सूत्रात्मक पद्धति द्वारा परमहंस-संन्यासी के गूढ़ सिद्धान्तों को रहस्यात्मक ढंग से विवेचित किया गया है। सर्वप्रथम परमहंस संन्यासी का परिचय दिया गया है, तत्पश्चात् दीक्षा, देवदर्शन, क्रीड़ा, गोष्ठी, भिक्षा, आचरण आदि का परमहंस संन्यासी के लिए क्या स्वरूप है, विवेचना की गई है। आगे चलकर पुनः मठ, ज्ञान, ध्येय, कन्था (गुदड़ी), आसन, पटुता, तारक उपदेश, नियम, अनियामकत्व, यज्ञोपवीत, शिखा तथा मोक्ष आदि की वास्तविक स्थिति संन्यासी के लिए क्या है? इसका निरूपण करते हुए कहा गया है कि यही 'निर्वाण' का तत्त्वदर्शन है। यह तत्त्वदर्शन श्रद्धा-समर्पण युक्त शिष्य या पुत्र को ही प्रदान करना चाहिए। सामान्य व्यक्ति को इस तत्त्वदर्शन से कोई लाभ नहीं प्राप्त हो पाता।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि..... इति शान्तिः । (द्रष्टव्य-आत्मबोधोपनिषद्)

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः । परमहंसः सोऽहम् । परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गाः ।  
मन्मथक्षेत्रपालाः । गगनसिद्धान्तः । अमृतकल्लोलनदी । अक्षयं निरञ्जनम् । निःसंशयः ऋषिः ।  
निर्वाणो देवता । निष्कुलप्रवृत्तिः । निष्केवलज्ञानम् ॥ १-११ ॥

अब निर्वाणोपनिषद् का वर्णन करते हैं। मैं परमहंस हूँ। मैं वही (ब्रह्म) हूँ। परिव्राजक (संन्यासी) पश्चिमलिङ्ग (अन्तिम स्थिति रूप चिह्न युक्त) होते हैं। कामदेव के लिए क्षेत्रपाल जैसे (अर्थात् कामदेव को रोकने में समर्थ) होते हैं। वे गगन सिद्धान्त वाले अर्थात् आंकाश की तरह निर्लिपि और व्यापक सिद्धान्त वाले होते हैं। वे अमृत तरंगों वाली (आत्मारूपी) नदी के समान होते हैं। उनका स्वरूप अक्षय निरञ्जन अर्थात् अनश्वर और निर्लेप होता है। 'निःसंशय' ही उनका ऋषि है, निर्वाण ही उनका देवता है। उनकी प्रवृत्ति निष्कुल (स्वकुल-गोत्र से परे) होती है। उनका ज्ञान समस्त उपाधियों से मुक्त होता है। ॥ १-११ ॥

ऊर्ध्वाम्नायः । निरालम्बपीठः । संयोगदीक्षा । वियोगोपदेशः । दीक्षासंतोषपावनं च । द्वाद-  
शादित्यावलोकनम् । विवेकरक्षा । करुणैव केलिः । आनन्दमाला । एकान्तगुहायां मुक्तासनसु-  
खगोष्ठी । अकल्पितभिक्षाशी । हंसाचारः । सर्वभूतान्तर्वर्ती हंस इति प्रतिपादनम् ॥ १२-२४ ॥

उनका अभ्यास उच्चस्थिति के लिए होता है। उनका आसन आश्रयरहित होता है। परमात्मा (ईश्वर) के साथ संयोग ही उनकी दीक्षा है। संसार से वियोग करना (मुक्त होना) ही उनका उपदेश है। दीक्षा लेकर सन्तोष करना ही उनका पावन कर्म करना है। द्वादश आदित्यों का (प्रलयकाल का) वे दर्शन करते हैं (क्योंकि प्रलय काल में ही द्वादश आदित्य एक साथ उदीयमान होते हैं)। वे विवेक के द्वारा अपनी रक्षा करते हैं। दया (करुणा) ही उनकी क्रीड़ा (खेल) है। आत्मिक आनन्द ही उनकी माला है। एकान्त रूपी गुहा में मुक्त होकर सुखपूर्वक बैठना ही उनकी गोष्ठी है। (अपने हाथ से) न बनाया हुआ, (अपितु माँग कर प्राप्त किया हुआ) भोजन ही उनकी भिक्षा है। वे हंसाचारी होते हैं अर्थात् उनका आचरण हंसों जैसा (नीरक्षीरविवेकी) होता है। समस्त प्राणियों के अन्तर में रहने वाला आत्मा ही हंस है, ऐसा उनका प्रतिपादन है। ॥ १२-२४ ॥

धैर्यकन्था । उदासीनकौपीनम् । विचारदण्डः । ब्रह्मावलोकयोगपट्टः । श्रियां पादुका । परेच्छाचरणम् । कुण्डलिनीबन्धः । परापवादमुक्तो जीवन्मुक्तः । शिवयोगनिद्रा च । खेचरीमुद्रा च । परमानन्दी । निर्गुणगुणत्रयम् । विवेकलभ्यम् । मनोवागगोचरम् । अनित्यं जगद्यज्जनितं स्वप्रजगदभ्रगजादितुल्यम् । तथा देहादिसंघातं मोहगुणजालकलितं तद्रज्जुसर्पवत्कल्पितम् । विष्णुविध्यादिशताभिधानलक्ष्यम् । अङ्गुशो मार्गः । शून्यं न संकेतः । परमेश्वरसत्ता । सत्यसिद्धयोगो मठः । अमरपदं न तत्स्वरूपम् । आदिब्रह्मस्वसंवित् । अजपा गायत्री । विकारदण्डो ध्येयः ॥

धैर्य उन (संन्यासियों) की गुदड़ी है । उदासीन प्रवृत्ति उनकी कौपीन (लँगोटी) है । विचार ही उनका दण्ड है, ब्रह्म का अवलोकन ही उनका योगपट्ट है, सम्पदा उनकी पादुका है (धन-सम्पदा को वे पैर की जूती की तरह तुच्छ वस्तु समझते हैं) । परेच्छा ही उनका आचरण है (ईश्वर की इच्छा से ही वे देह धारण और चेष्टा करते हैं) । कुण्डलिनी ही उनका बन्ध है । वे परापवाद (परनिन्दा) से मुक्त होकर जीवन्मुक्त होते हैं । कल्याणकारी ईश्वर के साथ योग ही उनकी निद्रा है । उस निद्रा और खेचरी मुद्रा को धारण करके वे परमानन्द का अनुभव करते हैं । वह (ब्रह्म) तीनों गुणों से अतीत अर्थात् त्रिगुणातीत-निर्गुण है । वह विवेक द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । वह मन और वाणी द्वारा प्राप्य नहीं है अर्थात् वह मन और वाणी का अविषय है । (जिस प्रकार) यह जगत् अनित्य है, इससे जो जन्मा है, वह स्वप्र के संसार की तरह और आकाश में बने बादलों के हाथी आदि की तरह मिथ्या है, उसी प्रकार यह देह आदि संघात, मोह आदि दोषों से युक्त है और यह सब रस्सी में सर्प की भ्रान्ति के समान मिथ्या है । विष्णु, विधि (ब्रह्म) आदि सैकड़ों नामों वाला ब्रह्म ही लक्ष्य है । इन्द्रियों पर अंकुश रखना ही (ब्रह्म प्राप्ति का) मार्ग है । ब्रह्म प्राप्ति का वह मार्ग शून्य संकेत (विष्णु आदि देव शक्तियों से रहित) नहीं है । समस्त जीवों पर ईश्वर की सत्ता है । सत्य और सिद्ध हुआ योग ही (संन्यासी का) मठ है । अमर पद (स्वर्ग) उस (ब्रह्म) का स्वरूप नहीं है । आदि ब्रह्म से स्व की एकरूपता ही ज्ञान है । उक्तभाव (सोऽहं) का अजपा जप ही गायत्री है । विकारों के ऊपर नियन्त्रण पाना ही ध्येय है ॥ २५-३६ ॥

मनोनिरोधिनी कन्था । योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनम् । आनन्दभिक्षाशी । महाश्मशाने-उप्यानन्दवने वासः । एकान्तस्थानम् । आनन्दमठम् । उन्मन्यवस्था । शारदा चेष्टा । उन्मनी गतिः । निर्मलगात्रम् । निरालम्बपीठम् । अमृतकल्पोलानन्दक्रिया । पाण्डरगगनमहासिद्धान्तः । शमदमा-दिदिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्रप्रपटुता । परावरसंयोगः । तारकोपदेशः । अद्वैतसदानन्दो देवता ॥

मन का निरोध करने वाली प्रवृत्ति ही कन्था (गुदड़ी) है । (संन्यासीगण) योग के द्वारा परब्रह्म के सदानन्द स्वरूप का दर्शन करते हैं । वे (परिव्राजक-संन्यासी) आनन्दरूप भिक्षा का ही भोजन करते हैं । वे महाश्मशान में भी आनन्द वन की भाँति निवास करते हैं । एकान्त स्थल ही उनका मठ होता है । उनकी उन्मनी (निर्विकल्पक) अवस्था तथा शारदा (उज्ज्वल) चेष्टा होती है । उनकी उन्मनी निर्विकल्पकरूपा गति होती है । उनका निर्मल शरीर और आश्रयरहित आसन होता है । अमृत रूपी महान् सागर की तरंगों में आनन्दित रहना ही उनकी क्रिया है । चिदाकाश ही उनका महा सिद्धान्त है । शम, दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण (व्यवहार) में क्षेत्र और पात्र का ध्यान रखना उनकी पटुता (कुशलता) है । परावर (ब्रह्म) के साथ संयोग ही उनका तारक् उपदेश है । अद्वैत सदानन्द ही उनका देवता है ॥ ३७-४८ ॥

नियमः स्वान्तरिन्द्रियनिग्रहः । भयमोहशोकक्रोधत्यागस्त्यागः । परावरैक्यरसास्वादनम् । अनियामकत्वनिर्मलशक्तिः । स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्वे शिवशक्तिसंपुटितप्रपञ्चेदनम् । तथा

पत्राक्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनम् । बिभृत्याकाशाधारम् । शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतम् । तन्मया शिखा । चिन्मयं चोत्सृष्टिरण्डम् संततोक्षिकमण्डलम् । कर्मनिर्मूलनं कथा । मायाममताहंकारदहनम् । श्मशाने अनाहताङ्गी । निस्त्रैगुण्यस्वरूपानुसन्धानं समयं भ्रान्तिहननम् । कामादिवृत्तिदहनम् । काठिन्यदृढ़कौपीनम् । चिराजिनवासः । अनाहतमन्त्रं अक्रिययैव जुष्टम् । स्वेच्छाचारस्वस्वभावो मोक्षः । परं ब्रह्म प्लववदाचरणम् । ब्रह्मचर्यशान्तिसंग्रहणम् । ब्रह्मचर्याश्रमेऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वसंविद्यासं संन्यासम् । अन्ते ब्रह्माखण्डाकारम् । नित्यं सर्वसंदेहनाशनम् ॥ ४९-६० ॥

अपनी इन्द्रियों का निग्रह करना ही उन (परिव्राजक संन्यासियों) का नियम होता है । भय, मोह, शोक एवं क्रोध का परित्याग करना ही उनका त्याग है । वे परब्रह्म के साथ एकत्व का रसास्वादन करते हैं । अनियामकत्व (न किसी को वश में करना और न ही किसी का तिरस्कार करना) ही उनकी निर्मल शक्ति होती है । वे स्व प्रकाशित ब्रह्म तत्त्व में शिव-शक्ति से संपुटित प्रपञ्च का उच्छेदन करते हैं । वे पत्र (कारण शरीर), अक्ष (सूक्ष्म शरीर) और अक्षि (स्थूल शरीर) इन तीनों शरीरों के भाव और अभाव को दाध (विनष्ट) करने वाले होते हैं । वे आकाशरूपी आधार को धारण करने वाले होते हैं । तुरीयावस्था में स्थित शिव अथवा ब्रह्म ही उनका यज्ञोपवीत और शिवमयी (ब्रह्ममयी ज्ञान) शक्ति ही उनकी शिखा है । चिन्मय स्वरूप होने के कारण उनकी दृष्टि में स्थावर और जङ्गम समूची सृष्टि ब्रह्म ही है । कर्मों को निर्मूल कर देना (अर्थात् कर्मफल से न बँधना) ही उनकी कथा है । वे माया, ममता और अहंकार को दाध कर डालने के लिए श्मशान भूमि में अनाहत अंग (अवधूत-विदेह) होकर विचरण करते हैं । जो त्रिगुणातीत हैं, निज रूपरूप के अनुसन्धान और भ्रान्ति के हनन में ही जिनका समय लगता है; जो काम आदि वृत्तियों का दहन करते रहते हैं, जो कौपीन धारण करके कठोरतापूर्वक संयम का पालन करते हैं, जो चिरकाल तक मृगचर्म रूप वस्त्र धारण करते हैं, जो निरन्तर अक्रिया द्वारा ही अनाहत नाद रूप मन्त्र का सेवन करते हैं; उन (संन्यासी परिव्राजकों) का स्वभाव स्वेच्छाचारी (अपनी आत्मा के निर्देश के अनुरूप आचरण करने वाला) होता है, यही उनका मोक्ष है । परब्रह्म स्वरूप लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ज्ञानरूपी नौका के समान आचरण करने वाला अवधूत पहले ब्रह्मचर्य द्वारा शान्ति प्राप्त करता है । ब्रह्मचर्याश्रम में अध्ययन के उपरान्त वानप्रस्थ आश्रम में भी अध्ययन (चिन्तन-मनन-निदिध्यासन) करता है और ज्ञान सम्पत्ति होकर समस्त ज्ञान (लौकिक ज्ञान) का परित्याग कर देता है- यही संन्यास है । अन्त में नित्य ब्रह्म के अखण्ड आकार की स्थिति में पहुँचकर समस्त संशयों का नाश कर देता है ॥ ४९-६० ॥

**एतत्रिवर्णाणदर्शनं शिष्यं पुत्रं विना न देयमित्युपनिषत् ॥ ६१ ॥**

यही निर्वाण का तत्त्वदर्शन है । इसका उपदेश शिष्य या पुत्र (अत्यधिक श्रद्धा-समर्पण भाव वाले) के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति नहीं करना चाहिए । यही उपनिषद् (रहस्य) है ॥ ६१ ॥

ॐ वाइमे मनसि..... इति शान्तिः ॥

॥ इति निर्वाणोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ पञ्चब्रह्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय परम्परा की है। इसमें कुल ४१ मन्त्र हैं। इसका शुभारम्भ शाकल द्वारा पैप्पलाद से पूछे गये प्रश्न-सर्वप्रथम सृष्टि के प्रारम्भ में क्या उत्पन्न हुआ?—से हुआ है। पहले तो पैप्पलाद ने क्रमशः सद्योजात, अघोर, वामदेव, तत्पुरुष तथा ईशान के उत्पन्न होने की बात कही, बाद में क्रमशः उनका स्वरूप वर्णित किया। इन्हीं पाँचों को ‘पंचब्रह्म’ की संज्ञा प्रदान की गई है तथा कहा गया है कि इस पंचब्रह्मात्मक स्वरूप को अपनी आत्मा में अवस्थित मानकर ‘पंचब्रह्म मैं ही हूँ’— इस प्रकार का आनुभविकज्ञान प्राप्त कर लेने वाला साधक ब्रह्मामृत का रसास्वादन करता हुआ मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अन्त में इस पंचब्रह्मात्मक विद्या की महती महिमा का गुणगान करते हुए हृदयकमल में विद्यमान सदाशिव तत्त्व के अनुसन्धान करने का निर्देश देकर उपनिषद् को पूर्ण किया गया है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः ॥( द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद् )

अथ पैप्पलादो भगवान्भो किमादौ किं जातमिति । सद्यो जातमिति किं भगव इति । अघोर इति । किं भगव इति । वामदेव इति । किं वा पुनरिमे भगव इति । तत्पुरुष इति । किं वा पुनरिमे भगव इति । सर्वेषां दिव्यानां प्रेरयिता ईशान इति । ईशानो भूतभव्यस्य सर्वेषां देवयोनिनाम् ॥ १ ॥

एक बार शाकल के द्वारा पूछने पर कि सर्वप्रथम क्या उत्पन्न हुआ? पैप्पलाद ने उत्तर देते हुए कहा— सर्वप्रथम ‘सद्योजात’ नामक ब्रह्म का आविर्भाव हुआ। शाकल ने पूछा—इसके अतिरिक्त क्या और भी कोई अन्य भेद है? पैप्पलाद जी ने कहा—‘हाँ, ‘अघोर’ है। शाकल ने फिर प्रश्न किया कि क्या और भी अन्य भेद है? पैप्पलाद ने उत्तर दिया—‘वामदेव। शाकल ने पुनः पूछा—‘क्या यही भेद हैं?’ पैप्पलाद जी ने कहा ‘नहीं, ‘तत्पुरुष’ नामक एक और भी भेद है। शाकल ने पुनः प्रश्न किया— अच्छा तो क्या यही चार भेद हैं? पैप्पलाद जी ने कहा नहीं, सभी देवों को प्रेरित करने वाला ‘ईशान’ नामक एक भेद और है। यह सभी भूत, भविष्यत् एवं समस्त देवयोनियों का शासक है ॥ १ ॥

कति वर्णाः । कति भेदाः । कति शक्तिः । यत्सर्वं तद्ब्रह्मम् ॥ २ ॥

इसके कितने वर्ण हैं? कितने भेद (प्रकार) हैं? तथा कितनी शक्तियाँ हैं? ये समस्त बातें बड़ी गोपनीय हैं (अतः अनधिकारियों से छिपाकर रखनी चाहिए) ॥ २ ॥

तस्मै नमो महादेवाय महारुद्राय ॥ ३ ॥ प्रोवाच तस्मै भगवान्महेशः ॥ ४ ॥

महारुद्र उन महादेव को नमस्कार है। भगवान् महेश ने पैप्पलाद जी को ये सभी उपदेश प्रदान किये। गोप्याद्वौप्यतरं लोके यद्यस्ति शृणु शाकल। सद्योजातं मही पूषा रमा ब्रह्मा त्रिवृत्स्वरः ॥ ५ ॥ ऋग्वेदो गार्हपत्यं च मन्त्राः सप्त स्वरास्तथा। वर्णं पीतं क्रिया शक्तिः सर्वाभीष्टफलप्रदम् ॥ ६ ॥

हे शाकल! इस लोक में अति गोपनीय बातों में भी जो अति गूढ़ है, उसे सुनो। वह है ‘सद्योजात’ नामक ब्रह्म। सभी तरह की अभीष्ट सिद्धियों को देने वाली मही, पूषा, रमा, ब्रह्मा, त्रिवृत् (सत्, रज, तम्), अकारादि स्वर, ऋग्वेद, गार्हपत्य (अग्नि), विविध मंत्र (नमः शिवाय आदि) सात स्वर (स, रे, ग, म, प, ध, नि), पीला वर्ण (रंग) तथा क्रिया नामक शक्ति आदि जिसके अनेक स्वरूप हैं ॥ ५-६ ॥

अघोरं सलिलं चन्द्रं गौरी वेदद्वितीयकम् । नीरदाभं स्वरं सान्द्रं दक्षिणाग्निरुदाहतम् ॥ ७ ॥  
पञ्चाशद्वर्णसंयुक्तं स्थितिरिच्छाक्रियान्वितम् । शक्तिरक्षणसंयुक्तं सर्वाधौघविनाशनम् ॥ ८ ॥  
सर्वदुष्टप्रशमनं सर्वैश्वर्यफलप्रदम् ॥ ९ ॥

जल, चन्द्र, गौरी, यजुर्वेद, नीरदाभ (मेघ की आभा वाले), स्वर (उकार), स्निग्ध, दक्षिणाग्नि आदि ये सभी अघोर के स्वरूप बतलाये गये हैं । ये तथा इनके अतिरिक्त पचास (अ से लेकर क्ष तक जो) वर्ण हैं, उनसे युक्त स्थिति, इच्छा तथा क्रिया शक्ति से युक्त (अपनी विकल्पित) शक्ति के रक्षण से युक्त जो अघोर का स्वरूप है, वह सभी तरह के पापों के समूह का शमन करने वाला, सभी दुष्टों का विनाश करने वाला तथा सभी तरह के ऐश्वर्य के फल को प्रदान करने वाला है ॥ ७-९ ॥

वामदेवं महाबोधदायकं पावकात्मकम् । विद्यालोकसमायुक्तं भानुकोटिसमप्रभम् ॥ १० ॥  
प्रसन्नं सामवेदाख्यं गानाष्टकसमन्वितम् । धीरस्वरमधीनं चाहवनीयमनुत्तमम् ॥ ११ ॥  
ज्ञानसंहारसंयुक्तं शक्तिद्वयसमन्वितम् । वर्णं शुक्लं तमोमिश्रं पूर्णबोधकरं स्वयम् ॥ १२ ॥  
धामत्रयनियन्तारं धामत्रयसमन्वितम् । सर्वसौभाग्यदं नृणां सर्वकर्मफलप्रदम् ॥ १३ ॥  
अष्टाक्षरसमायुक्तमष्टपत्रान्तरस्थितम् ॥ १४ ॥

‘वामदेव’ महान् ज्ञान प्रदायक एवं तेजस्वी अग्नि के स्वरूप, विद्या के आलोक से आलोकित, करोड़ों सूर्यों के सदृश तेजोमय तथा सर्वदा आनन्द स्वरूप हैं । अष्टगान (सामवेद के कहे गये सात गान एवं एक भरत शास्त्र निष्पत्र गीति) से समन्वित मन्द स्वर (आ, आ, आम्) के अधीन तथा सर्वोत्तम आहवनीय (अग्निसदृश), ज्ञान एवं संहार शक्ति से समन्वित उनका (वामदेव का) स्वरूप है । वह शुक्ल वर्ण, तमोगुण युक्त तथा स्वयं ही पूर्णज्ञाता, (जाग्रत् आदि) तीनों धारों के नियामक, तीनों धारों (विश्व, तैजस, प्राज्ञ) से युक्त, सभी को सौभाग्य प्रदान करने वाले, मनुष्यों के सभी कर्मों के फल प्रदाता तथा (अ, क, च, ट, त, प, य, श) इन आठ अक्षरों (अथवा आठ क्षरित न होने वाले तत्त्वों अथवा ३०८नमो महादेवाय के आठ अक्षरों) तथा अष्टदल (पंखुड़ियों) से युक्त कमल अर्थात् हृदय रूपी कमल में निवास करने वाले हैं ॥ १०-१४ ॥

यत्तत्पुरुषं प्रोक्तं वायुमण्डलसंवृतम् । पञ्चाग्निं समायुक्तं मन्त्रशक्तिनियामकम् ॥ १५ ॥  
पञ्चाशत्स्वरवर्णाख्यमथर्ववेदस्वरूपकम् । कोटिकोटिगणाध्यक्षं ब्रह्माण्डाखण्डविग्रहम् ॥ १६ ॥  
वर्णं रक्तं कामदं च सर्वाधिव्याधिभेषजम् । सृष्टिस्थितिलयादीनां कारणं सर्वशक्तिधृक् ॥ १७ ॥  
अवस्थात्रितयातीतं तुरीयं ब्रह्मसंज्ञितम् । ब्रह्मविष्णवादिभिः सेव्यं सर्वेषां जनकं परम् ॥ १८ ॥

जो यह ‘तत्पुरुष’ हमने कहा है, वह वायुमण्डल से आपूरित पाँच अग्नियों से संयुक्त होकर मंत्र शक्ति का नियामक अर्थात् नियमन करने वाला है । वे स्वर एवं व्यञ्जन के रूप में पचास संख्या से प्रसिद्ध, अर्थर्ववेद के स्वरूप वाले, अनन्त कोटि गणों के अध्यक्ष तथा अखण्ड अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड रूप शरीर वाले हैं । उन (तत्पुरुष) का वर्ण लाल है, वे समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाले तथा सब प्रकार की आधि-व्याधियों (मानसिक एवं शारीरिक रोगों) की अनुपम औषधि हैं । ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, पालन एवं संहार के एक मात्र कारण हैं और समस्त शक्तियों को धारण करने में समर्थ हैं । इसके अतिरिक्त वे (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) तीनों अवस्थाओं से परे तुरीयावस्था (चतुर्थ अवस्था) स्वरूप एवं ब्रह्म की संज्ञा से युक्त हैं । वे (ब्रह्म) ही सभी को प्रादुर्भूत करने वाले, ब्रह्म एवं विष्णु आदि के द्वारा सर्वदा सेवित होने वाले हैं ॥ १५-१८ ॥

ईशानं परमं विद्यात्प्रेरकं बुद्धिसाक्षिणम् । आकाशात्मकमव्यक्तमोकारस्वरभूषितम् ॥ १९ ॥  
सर्वदेवमयं शान्तं शान्त्यतीतं स्वराद्वहिः । अकारादिस्वराध्यक्षमाकाशमयविग्रहम् ॥ २० ॥

पञ्चकृत्यनियन्तारं पञ्चब्रह्मात्मकं बृहत् ॥ २१ ॥ पञ्चब्रह्मोपसंहारं कृत्वा स्वात्मनि संस्थितः । स्वमायावैभवान्सर्वान्संहत्य स्वात्मनि स्थितः ॥ २२ ॥ पञ्चब्रह्मात्म कातीतो भासते स्वस्वते-जसा । आदावन्ते च मध्ये च भासते नान्यहेतुना ॥ २३ ॥

‘ईशान’ को परमात्मतत्त्व के रूप में प्रेरणा प्रदान करने वाला जानना चाहिए। (वे) बुद्धि के साक्षीरूप, आकाश स्वरूप (सर्वत्र व्यापक), अव्यक्त एवं ॐकार के स्वर से (ध्वनि से) विभूषित हैं। वे समस्त देवों के स्वरूप वाले, शान्त, शान्ति से भी परे अर्थात् अत्यन्त शान्ति से सम्पन्न, स्वरों से परे (अर्थात् स्वरों से जिनका ज्ञान सम्भव नहीं), ‘अकार’ आदि स्वरों के जो अधिष्ठाता स्वरूप हैं तथा जो आकाशमय (व्यापक) शरीर से युक्त हैं। (वे) सृष्टि आदि पाँच (सृष्टि, स्थिति, ध्वनि, विधान और अनुग्रह) कृत्यों के नियन्ता एवं सर्वव्यापक विराट् पंच ब्रह्मस्वरूप हैं। वे (ईशान) पंचब्रह्म का उपसंहार (निर्वाण) करके अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित होकर अपनी माया के वैभव-प्रभाव से सबका संहार करके अपनी ही आत्मा में प्रतिष्ठित रहने वाले हैं। वे (ईशान) पंच ब्रह्म से परे रहकर स्वयं अपने ही तेज से प्रकाशित हैं और आदि, मध्य एवं अन्त में भी किसी अन्य कारण से भासित नहीं होते, वरन् (वह) स्वयं प्रकाश स्वरूप एवं स्वयम्भू हैं ॥ १९-२३ ॥

**मायया मोहिताः शंभोर्महादेवं जगद्गुरुम् । न जानन्ति सुराः सर्वे सर्वकारणकारणम् । न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य परात्परं पुरुषं विश्वधाम ॥ २४ ॥ येन प्रकाशते विश्वं यत्रैव प्रविलीयते । तद्ब्रह्म परमं शान्तं तद्ब्रह्मास्मि परं पदम् ॥ २५ ॥**

भगवान् शम्भु की माया से मोहित देवगण, सम्पूर्ण जगत् के गुरु एवं समस्त कारणों के कारण उन देवाधिदेव महादेव को नहीं जानते। सम्पूर्ण विश्व को प्रकाश देने वाले उन परात्पर विराट् पुरुष का रूप सामान्य दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। जिसके द्वारा यह विश्व प्रकाशित होता है, जिसमें विलय को प्राप्त हो जाता है, ऐसा वह परम अविनाशी ब्रह्म शान्त स्वरूप है। वही अद्वितीय परमपद स्वरूप मैं स्वयं हूँ ॥ २४-२५ ॥ पञ्चब्रह्मिदं विद्यात्सद्योजातादिपूर्वकम् । दृश्यते श्रूयते यच्च पञ्चब्रह्मात्मकं स्वयम् ॥ २६ ॥ पञ्चधा वर्तमानं तं ब्रह्मकार्यमिति स्मृतम् । ब्रह्मकार्यमिति ज्ञात्वा ईशानं प्रतिपद्यते ॥ २७ ॥ पञ्चब्रह्मात्मकं सर्वं स्वात्मनि प्रविलाप्य च । सोऽहमस्मीति जानीयाद्विद्वान्ब्रह्ममृतो भवेत् ॥ २८ ॥ इत्येतद्ब्रह्म जानीयाद्यः स मुक्तो न संशयः ॥ २९ ॥

‘सद्योजात’ आदि यही पंचब्रह्म हैं, इस चराचर जगत् में जो भी दृष्टिगोचर हो रहा है अथवा सुनाई पड़ रहा है, वह सभी कुछ पंच ब्रह्मात्मक ही है। पाँच रूपों में प्रतिष्ठित वह (सद्योजात) ब्रह्मकार्य कहा गया है। इस ब्रह्मकार्य को जान करके ‘ईशान’ को प्राप्त किया जाता है। यदि विद्वान् मनुष्य उन पंच ब्रह्मात्मक को अपनी आत्मा में विलीन करके (अर्थात् मान कर) ‘सोऽहमस्मि’ अर्थात् ‘मैं वही पंचब्रह्म हूँ, स्वयं उन्हीं का रूप हूँ।’ इस प्रकार समझे, तो (वह) ब्रह्ममृत का रसास्वादन करने वाला हो जाता है। अतः इस प्रकार से जो ब्रह्म के स्वरूप को जान लेता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ २६-२९ ॥ पञ्चाक्षरमयं शम्भुं परब्रह्मस्वरूपिणम् । नकारादियकारान्तं ज्ञात्वा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ३० ॥ सर्वं पञ्चात्मकं विद्यात्पञ्चब्रह्मात्मतत्त्वतः ॥ ३१ ॥ पञ्चब्रह्मात्मिकीं विद्यां योऽधीते भक्तिभावितः । स पञ्चात्मकतामेत्य भासते पञ्चधा स्वयम् ॥ ३२ ॥

पंचाक्षरमय उस परब्रह्म स्वरूप भगवान् शम्भु को जान करके प्रारम्भ में ‘नकार’ और अन्त में ‘यकार’ है जिसके, ऐसे पंचाक्षर मंत्र (नमः शिवाय) को जपना चाहिए। समस्त वस्तुओं को पंचात्मक ब्रह्म के रूप में जानकर सर्वत्र पंचब्रह्म तत्त्व का ही दर्शन करना चाहिए। जो भी व्यक्ति भक्ति-भावनापूर्वक पंचब्रह्मात्मक विद्या को पढ़ता है, वह स्वयं ही पंचब्रह्म का साकार रूप होकर पंचब्रह्म की समीपता को प्राप्त कर लेता है ॥

एवमुक्त्वा महादेवो गालवस्य महात्मनः । कृपां चकार तत्रैव स्वान्तर्धिमगमत्स्वयम् ॥३३॥

इस प्रकार इस ज्ञान को महादेव जी 'गालव' मुनि को कृपापूर्वक बताते हुए वहीं आत्मलीन हो गए ॥ यस्य श्रवणमात्रेणाश्रुतमेव श्रुतं भवेत् । अमतं च मतं ज्ञातमविज्ञातं च शाकल ॥ ३४ ॥ एकेनैव तु पिण्डेन मृत्तिकायाश्च गौतम । विज्ञातं मृणमयं सर्वं मृदभिन्नं हि कार्यकम् ॥ ३५ ॥

हे शाकल ! जिसके त्रयण मात्र से ही अश्रुत (अनसुना) श्रुत (ज्ञात) हो जाता है । जाना हुआ, न जाना हुआ सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है और जिन सिद्धान्तों का ज्ञान न हो, वे सभी स्वयं ही ज्ञात हो जाते हैं । हे गौतम ! जिस प्रकार से मिट्ठी के एक ही पिण्ड से अभिन्न समस्त वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान हो जाता है; क्योंकि कार्य-कारण से अभिन्न होता है, वैसे ही पंचब्रह्म के ज्ञान द्वारा समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है ॥ ३४-३५ ॥ एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं यथा । विज्ञातं स्यादथैकेन नखानां कृन्तनेन च ॥ ३६ ॥ सर्वं काष्ठायिसं ज्ञातं तदभिन्नं स्वभावतः । कारणाभिन्नरूपेण कार्यकारणमेव हि ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार एक लोहमणि के द्वारा समस्त लोहतत्त्व ज्ञात हो जाते हैं, उसी प्रकार नाखून को काटने की छुरी से सभी लोहे के बने अस्त्रों की जानकारी प्राप्त हो जाती है; यह स्वाभाविक है कि उससे अपृथक् जितनी भी वस्तुएँ होंगी, वे सभी तदनुरूप होंगी; क्योंकि कारण से अभिन्न जो भी कार्य है, वह कारण रूप ही होता है ॥ तद्रूपेण सदा सत्यं भेदेनोक्तिरूपाखलु । तच्च कारणमेकं हि न भिन्नं नोभयात्मकम् ॥ ३८ ॥ भेदः सर्वत्र मिथ्यैव धर्मादिरनिरूपणात् । अतश्च कारणं नित्यमेकमेवाद्वयं खलु । अत्र कारणमद्वैतं शुद्धचैतन्यमेव हि ॥ ३९ ॥

यदि किसी भी वस्तु को (कार्य को) तद्रूप अर्थात् कारण के अनुरूप मान लिया जाए, तो वह सदा सत्य है । जब उसे भिन्न (तद्रूप से भिन्न) कहेंगे, तो वह मिथ्या कथन होगा; क्योंकि सभी कार्यों का कारण तो एक ही है । वह न तो भिन्न है और न ही उभयात्मक है । यह जो सभी जगहों पर भेद की प्रतीति होती है, उसका कारण धर्म के निरूपण का अभाव ही है । अतः कारण तो वस्तुतः एक ही है, वह दूसरा (भिन्न) नहीं है । इसलिए इस चराचर विश्व का कारण शुद्ध चैतन्यरूप अद्वैत ही है ॥ ३८-३९ ॥

अस्मिन्ब्रह्मपुरे वेशम दहरं यदिदं मुने । पुण्डरीकं तु तन्मध्ये आकाशो दहरोऽस्ति तत् । स शिवः सच्चिदानन्दः सोऽन्वेष्टव्यो मुमुक्षुभिः ॥ ४० ॥ अयं हृदि स्थितः साक्षी सर्वेषामविशेषतः । तेनायं हृदयं प्रोक्तः शिवः संसारमोचकः । इत्युपनिषत् ॥ ४१ ॥

हे मुने ! इस अविनाशी ब्रह्म के आश्रयस्थल शरीर में जो दहर नामक निवास स्थल (हृदय में) है, जिसे पुण्डरीक (कमल) भी कहते हैं, उसी में दहराकाश स्थित है । उसी में ही मोक्ष के इच्छुक साधकों को सत्-चित् एवं आनन्दस्वरूप उस शिव को ढूँढ़ना चाहिए । यह शिवं सदैव हृदय कमल में ही प्रतिष्ठित रहता है एवं निर्विशेष (सामान्य) दृष्टि से सभी का साक्षीभूत है । इस कारण से हृदय को शिवस्वरूप कहकर इस (हृदय) को ही संसार का मोचक अर्थात् संसार से मुक्त करने वाला कहा गया है ॥ ४०-४१ ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति पञ्चब्रह्मोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ परब्रह्मोपनिषद् ॥

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसमें कुल २० मन्त्र हैं, जिसमें परब्रह्म की प्राप्ति हेतु संन्यास-धर्म का विस्तृत विवेचन किया गया है।

उपनिषद् का शुभारंभ महाशाल शौनक के उस प्रश्न से हुआ है, जिसमें उन्होंने महर्षि पिप्पलाद से पूछा है कि संसार में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ इसके पूर्व कहाँ स्थित रहते हैं? भगवान् हिरण्यगर्भ ने उन पदार्थों को किस प्रकार सृजित किया और वस्तुतः वे कौन हैं? महर्षि पिप्पलाद ने इसी प्रश्न का विशद विवेचन किया है तथा उस परम सत्ता को; जो सृष्टि का आदिकारण है, जानने के लिए अष्टकपाल-अष्टांगयोग का आश्रय लेना बताया है। आगे चलकर संन्यास-धर्म का अतीव प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है, जिसमें संन्यासी को बाह्य यज्ञोपवीत और शिखा के स्थान पर आन्तरिक यज्ञोपवीत एवं शिखा की अनिवार्यता बताई गई है। साथ ही यह कहा गया है कि जिसने अग्निमय-ज्ञानमय शिखा और यज्ञोपवीत धारण किया है, वही सच्चा साधक और मुक्ति का अधिकारी बनता है। अन्त में बाहरी प्रपञ्चमय शिखा और यज्ञोपवीत का परित्याग करके प्रणव हंस (ॐ कार ब्रह्म) रूपी शिखा और यज्ञोपवीत का आश्रय लेकर मोक्ष का अधिकारी बनने का निर्देश दिया गया है।

## ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः ॥(द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद्)

अथ हैनं महाशालः शौनकोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्पलादं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ दिव्ये ब्रह्मपुरे संप्रतिष्ठिता भवन्ति खलु। कथं सृज्यन्ते। नित्यात्मन एष महिमा। विभज्य एष महिमा विभुः। क एषः। तस्मै स होवाच। एतत्सत्यं यत्प्रब्रवीमि ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां देवेभ्यः प्राणेभ्यः। परब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुभ्रमक्षरं विरजं विभाति। स नियच्छति मधुकरराश्या निर्मकः। अकर्मस्वपुरस्थितः। कर्मतरः कर्षकवत्फलमनुभवति। कर्ममर्जनाता कर्म करोति। कर्ममर्म ज्ञात्वा कर्म कुर्यात्। को जालं विक्षिपेदेको नैनमपकर्षत्यपकर्षति ॥ १ ॥

एक बार बुद्धिमान् शौनक ने विधिवत् समीप बैठकर अङ्गिरस गोत्रीय भगवान् पिप्पलाद से पूछा- क्या संसार में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ पहले दिव्य ब्रह्मपुर अर्थात् भगवान् हिरण्यगर्भ के हृदयाकाश में प्रतिष्ठित होते हैं? ये व्यापक महिमाशाली भगवान् अपने अन्दर से उन पदार्थों को यथा विभाग किस तरह सृजित करते हैं? इन विभु की महिमा क्या है? अर्थात् ये वस्तुतः कौन हैं? महर्षि पिप्पलाद ने उनसे कहा- जो श्रेष्ठ ब्रह्म विद्या में तुमसे कहूँगा, वह सत्य है। यह सत्, देवों (इन्द्रियों) तथा प्राण-अपान आदि दस प्राणों को अपने-अपने विषय ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करता है। यह परब्रह्मपुर में विरज (रज आदि गुणत्रय के अभाव वाला) और निष्कल (प्राण आदि नामवाली षोडश कलाओं से रहित) है। इसी कारण शुभ्र (स्वच्छ) और अक्षर (अविनाशी) है, जो गुणातीत होकर सुशोभित होता है, वह जीव समूह के बन्धन और मोक्ष का निर्माण कर्ता होने से 'निर्मक' कहलाता है। इसी प्रकार जो निर्माता है, वह परमात्मा मुमुक्षुओं की अविद्या का समापन कर देता है, जिससे वे शुद्ध चैतन्य उस परमात्मा का अनुभव (दर्शन) कर पाते हैं। वह परब्रह्म अपने

ही स्थान में रहकर अकर्म (कर्महीन) स्वरूप में अवस्थित रहता है, क्योंकि वह कृत-कृत्य होता है, अर्थात् उसके लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। वह पराग् दृष्टि (विपरीत दृष्टि) वाला व्यक्ति तो इह लोक और परलोक के फल प्राप्त करने की दृष्टि से विविध कर्म करता है और कृषक की भाँति अपने द्वारा किये हुए कर्मों का फल प्राप्त करता है। जो ज्ञानी कर्म के मर्म को (कर्म को जन्म आदि का कारण) जानकर कर्म करता है, वह तो चित्त की शुद्धि के लिए परमेश्वर की आराधना रूप कर्म करता है। जो मुनि अपने अतिरिक्त (अपने को ब्रह्म मानकर) अन्य भ्रम से मुक्ति चाहता है, वह कर्म के मर्म को जानकर (कर्मानुसार ही उच्च-नीच योनियाँ मिलती हैं, यह जानकर) अपने आश्रम के अनुरूप निष्काम कर्म करता है। एक मात्र ब्रह्म में चित्त को लगाने वाला कौन ऐसा विवेकी है, जो विविध प्रकार के कर्म जाल में फँसकर अपना अपकर्ष करता है? अर्थात् कोई नहीं (इसका आशय है कि निष्काम कर्म करने वाले को उसके कर्म सांसारिक विषयों में नहीं खींच सकते) ॥१॥

**प्राणदेवताश्वत्वारः । ताः सर्वा नाड्यः सुषुप्तश्येनाकाशवत् । यथा श्येनः खमाश्रित्य याति स्वमालयं कुलायम् । एवं सुषुप्तं ब्रूत । अयं च परं च स सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे । अमृता ह्योषा नाडीत्रयं संचरति । तस्य त्रिपादं ब्रह्म । एषात्रेष्य ततोऽनुतिष्ठति । अन्यत्र ब्रूत । अयं च परं च सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे । यथैष देवदत्तो यष्ट्या च ताड्यमानो नैवैति । एवमिष्टापूर्तकर्मा शुभाशुभैर्न लिप्यते । यथा कुमारको निष्काम आनन्दमभियाति । तथैष देवः स्वप्न आनन्दम-भिधावति । वेद एव परं ज्योतिः । ज्योतिषा मा ज्योतिरानन्दयत्येवमेव । तत्परं यच्चित्तं परमात्मा-नमानन्दयति । शुभ्रवर्णमाजायतेश्वरात् । भूयस्तेनैव मार्गेण स्वप्नस्थानं नियच्छति । जलूकाभाव-वद्व्यर्थकाममाजायतेश्वरात् । तावतात्मानमानन्दयति । परसंधि यदपरसन्धीति । तत्परं नापरं त्यजति । तदैवं कपालाष्टकं संधाय य एष स्तन इवावलम्बते सेन्द्रयोनिः स वेदयोनिरिति । अत्र जाग्रति शुभाशुभातिरिक्तः शुभाशुभैरपि कर्मभिर्न लिप्यते । य एष देवोऽन्यदेवस्य संप्रसादोऽन्तर्याम्यसङ्गचिद्रूपः पुरुषः । प्रणवहंसः परं ब्रह्म । न प्राणहंसः । प्रणवो जीवः । आद्या देवता निवेदयति । य एवं वेद । तत्कथं निवेदयते । जीवस्य ब्रह्मत्वमापादयति ॥ २ ॥**

(त्रिपाद् ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय बताते हुए ऋषि कहते हैं कि) जीव के प्राणाधार रूप में विश्वादि तुरीयान्त भेद से प्राण के चार भेद होते हैं। उन्हें प्राप्त करने वाली नाड़ियाँ भी चार प्रकार की होती हैं। ये चार-रमा, अरमा, इच्छा और पुनर्भवा नामक हैं। इनमें रमा और अरमा नाड़ियों का अवलम्बन लेकर वह (प्राण) आकाशगामी श्येन (बाज़) की तरह जाग्रत्, स्वप्न आदि के व्यवहार से थकित होकर सुषुप्तावस्था में चला जाता है, अर्थात् जिस प्रकार श्येन आकाश में उड़ते-उड़ते थककर अपने घोंसले में विश्राम हेतु चला जाता है, उसी प्रकार जीव भी जाग्रत् स्वप्नादि प्रपञ्चों से थककर दोनों नाड़ियों का आश्रय लेकर सुषुप्ति में विश्रान्ति प्राप्त करता है। वह (जीव) कभी-कभी सुषुप्तावस्था में अन्यत्र भी भ्रमण करता है, इस संदर्भ में बताते हैं-यह वस्तुः अमृत रूप देवता सर्वत्र व्यापक हिरण्यमय परकोश अर्थात् हृदयाकाश में रमा आदि नाड़ित्रय का आश्रय लेकर संचरण करता है। उसके बाद उसका त्रिपाद् रूप ब्रह्म ही शेष रह जाता है। यह जीव (प्राणवत्ता) रूप देवता अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर तत्स्वरूप में स्थित रहकर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव इस जाग्रदवस्था के अतिरिक्त भी अन्य अवस्थाओं में अपनी स्वतन्त्र सत्ता समझकर परिभ्रमण करता रहता है। सर्वत्र सदैव हिरण्यमय परकोश में विचरण करता हुआ भी स्वाज्ञानावरणाच्छश होकर जाग्रत्

आदि अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) के गर्त में गिरता है अर्थात् बन्धनयुक्त होता है। जिस प्रकार कोई देवदत्त नामक व्यक्ति शयन की स्थिति में हो, उसे कोई बेंत से ताड़ित करे, तो जागने के बाद वह पुनः नहीं सोता; उसी प्रकार यह जीव भी श्रुतिरूप (वेद शास्त्रादि) आचार्य द्वारा जाग्रत् हो जाने पर पुनः अवस्थात्रय रूप गर्त में नहीं पड़ता और न ही इष्टापूर्त आदि शुभाशुभ कर्मों में लिस होता है। इसी प्रकार जैसे बालक किसी वस्तु में विशेष आसक्ति न होने के कारण जो भी मिल जाए, उसी को पाकर आनन्दित होता रहता है, उसी प्रकार यह जीव भी स्वप्न अथवा जाग्रत्-अवस्था में भी निरन्तर आनन्द का अनुभव करता है अथवा आनन्द की ओर ही दौड़ता है।

अतः जो कोई श्रुतिरूप आचार्य के मुख से यह जान लेता है कि मैं परम ज्योति और आनन्द का स्वरूप हूँ तथा परम ज्योति सूर्यादि की किरण हूँ, प्रकाश हूँ, अपने आप में आनन्दित रहता हूँ। इस प्रकार जिसका हृदय (चित्त) उस परब्रह्म में तत्पर (समर्पित) हो जाता है, वह परमात्मा को प्राप्त कर आत्मा को तृप्त (आनन्दित) करता रहता है अथवा अपने आत्मस्वरूप आनन्दस्वरूप में स्थित रहता है। ईश्वर से शुभ्रवर्ण (निर्विकल्प भाव) उत्पन्न होता है, जिससे चित्त प्रसन्न होता है। इस प्रकार त्रिपुष्टि विरल निर्विकल्प समाधि का अनुभव करके स्वप्न स्थान में विश्राम करता है अर्थात् त्रिपुष्टि विशिष्ट अखण्डाकार वृत्ति से शीघ्र ही स्वप्नावस्था को प्राप्त कर 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करके आत्मा को विश्राम प्रदान करता है। जिस प्रकार जलूका (जोंक) एक तिनके से दूसरे तिनके पर जाती है, उसी प्रकार यह विद्वान् भी तुरन्त जागरणस्थ और तुरन्त स्वप्नस्थ हो जाता है। पुनः जागरण को त्याग कर फिर स्वप्नस्थ हो जाता है। ईश्वर की कृपा से (अवस्था विभाग से) तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) में सञ्चरण करने की इच्छा करने मात्र से वैसी स्थिति बन जाती है। इस कारण यह (जीव) सविकल्प और निर्विकल्प समाधि से अपनी आत्मा को आनन्दित करता है। तत्पश्चात् जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व में जो भेद सापेक्षत्व (अविद्या) है, उसका यह आत्मतत्त्व त्याग कर देता है। इस प्रकार वह अविद्यारहित आत्मतत्त्व (परब्रह्म) अपर (उस ब्रह्म से भिन्न कुछ न होने से) का त्याग नहीं करता। स्वयमेव विद्यमान रहता है।

यदि केवल श्रवणादि के माध्यम से निर्विशेष ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, तो कपालाष्टक का आश्रय लेना चाहिए। कपालाष्टक के आठ (८) अंग हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनके द्वारा अन्तर के कलुष को शुद्ध करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस कपालाष्टक-अष्टांगयोग के द्वारा स्तन (हृदय स्थान में स्थित केले के पुष्ट) की भाँति लटका रहता है, जो योग के समय ऊपर उठता हुआ विकास को प्राप्त होता है; इसमें ही इन्द्रयोनि (परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग), जिसे वेदयोनि कहते हैं, वह ईश्वर जाग्रत् रहता है। इस प्रकार जो अपने हृदयकमल में ईश्वर का ध्यान करता है, वह शुभ-अशुभ से परे होकर शुभाशुभ कर्मों के द्वारा कभी लिस नहीं होता। वह देव कैसा है? इस संदर्भ में बताते हैं—वह अन्य देवों का संप्रसाद (अत्यन्त प्रसन्नता) दाता, अन्तर्यामी, असङ्ग, चैतन्य स्वरूप, पुरुष, प्रणव हंस (ॐकार), परमब्रह्म है, जो प्राण हंस नहीं है। (यहाँ प्राण हंस से अभिप्राय मुख्य प्राण से है, क्योंकि यह परब्रह्म प्रकरण है, प्राण का नहीं) प्रणव ही जीव है; क्योंकि वह ओंकार के अवयव के आकार से समझा जाने वाला है। वह जीवरूपी आद्य देवता कहा जाता है। जो इस यथार्थता को इस प्रकार जानता है, वह जीव-ब्रह्म के भेद को कैसे निरूपित (निवेदित) कर सकता है। वह तो जीव और ब्रह्म का एकत्व ही प्रतिपादित करता है, उनका भेद कभी स्मरण नहीं करता ॥ २ ॥

[ यहाँ ऋषि ने योग के अष्टांगों को कपालाष्टक कहा है। अपनी भाव दृष्टि से ऋषि उसे एक कमल पुष्ट की तरह

अनुभव करते हैं। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से लटका हुआ बंद कमल ऊर्ध्वमुख होकर खिल जाता है, उसी प्रकार सुप्रावस्था में स्थित योग वृत्तियाँ ब्राह्मी चेतना के संयोग से जागत और ऊर्ध्वमुखी हो उठती हैं।]

**सत्त्वमथास्य पुरुषान्तःशिखोपवीतत्वम् । ब्राह्मणस्य मुमुक्षोरन्तःशिखोपवीतधारणम् । बहिर्लक्ष्यमाणशिखायज्ञोपवीतधारणं कर्मिणो गृहस्थस्य । अन्तरुपवीतलक्षणं तु बहिस्तन्तु-वदव्यक्तमन्तस्तत्त्वमेलनम् ॥ ३ ॥**

ब्रह्म रूप इस पुरुष का सत्त्व आन्तरिक शिखा और यज्ञोपवीत है। मुमुक्षु ब्राह्मण को यह आन्तरिक शिखा और यज्ञोपवीत ही धारण करना चाहिए। बाहर दिखाई देने वाले शिखा और यज्ञोपवीत को धारण करना गृहस्थ का कर्तव्य है। आन्तरिक शिखा और यज्ञोपवीत बाह्य सूत्रवत् शिखा और यज्ञोपवीत के समान व्यक्त नहीं हैं। वे तो अव्यक्त हैं और ब्रह्मत्व से मेल कराने वाले हैं ॥ ३ ॥

**न सन्नासन्न सदसद्दिन्नाभिन्नं न चोभयम् । न सभागं न निर्भागं न चाप्युभ्यरूपकम् । ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं हेयं मिथ्यात्वकारणादिति ॥ ४ ॥**

अविद्या का स्वरूप न सत् है, न असत्; न भिन्न है, न अभिन्न और न दोनों का उभय स्वरूप है। वह न सभाग है, न निर्भाग और न इनका उभय रूप ही है। अतः जब तक अनिर्वचनीय ब्रह्म का आत्मैकत्व (प्रत्येक आत्मा ब्रह्म है, यह ज्ञान) उदित नहीं होता, तभी तक अविद्या की स्थिति है। ब्रह्म स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर, यह सभी हेय है, त्याग देने योग्य है, क्योंकि यह सब मिथ्या है ॥ ४ ॥

**पञ्चपादब्रह्मणो न किंचन । चतुष्पादन्तर्वर्तिनोऽन्तर्जीवब्रह्मणश्रुत्वारि स्थानानि । नाभिहृदयकण्ठमूर्धसु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरीयावस्थाः । आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणसभ्याग्रिषु । जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरं चिन्मयम् । तस्माच्यतुरवस्था । चतुरङ्गुलवेष्टनमिव षण्णवतितत्त्वानि तन्तुवद्विभज्य तदाहितं त्रिगुणीकृत्य द्वात्रिंशतत्त्वनिष्कर्षमापाद्य ज्ञानपूतं त्रिगुणस्वरूपं त्रिमूर्तित्वं पृथग्विज्ञाय नवब्रह्माख्यनवगुणोपेतं ज्ञात्वा नवमानमितं त्रिःपुनस्त्रिगुणीकृत्य सूर्येन्द्रग्रिकलास्वरूपत्वेनैकीकृत्याद्यन्तरेकत्वमपि मध्ये त्रिरावृत्य ब्रह्म विष्णुमहेश्वरत्वमनुसंधायाद्यन्तमेकीकृत्य चिद्ग्रन्थावद्वैतग्रन्थिं कृत्वा नाभ्यादिब्रह्म बिलप्रमाणं पृथक् पृथक् समविंशतितत्त्वसंबन्धं त्रिगुणोपेतं त्रिमूर्तिलक्षणलक्षित मप्येकत्वमापाद्य वामांसादिदक्षिणाकट्यन्तं विभाव्याद्यन्तग्रहसंमेलनमेवं ज्ञात्वा मूलमेकं सत्यं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । हंसेति वर्णद्वयेनान्तःशिखोपवीतित्वं निश्चित्य ब्रह्मणत्वं ब्रह्मध्यानार्हत्वं यतित्वमलक्षितान्तःशिखोपवीतित्वमेवं बहिर्लक्षितकर्म-शिखाज्ञानोपवीतं गृहस्थस्याभासब्रह्मणत्वस्य केशसमूहशिखाप्रत्यक्षकार्पासितन्तुकृतोपवीतत्वम् । चतुः चतुर्गुणीकृत्य चतुर्विंशतितत्त्वापादनतन्तुकृत्वं नवतत्त्वमेकमेव परंब्रह्म तत्प्रतिसरयोग्यत्वाद्वृहुमार्गप्रवृत्तिं कल्पयन्ति । सर्वेषां ब्रह्मादीनां देवर्षीणां मनुष्याणां मुक्तिरेका । ब्रह्मैकमेव । ब्रह्मणत्वमेकमेव । वर्णाश्रमाचारविशेषाः पृथक्पृथक् शिखा वर्णाश्रमिणामेव । अपवर्गस्य यते: शिखायज्ञोपवीतमूलं प्रणवमेकमेव वदन्ति । हंसः शिखा । प्रणव उपवीतम् । नादः संधानम् । एष धर्मो नेतरो धर्मः । तत्कथमिति । प्रणवहंसो नादस्त्रिवृत्सूत्रं स्वहृदि चैतन्ये तिष्ठति त्रिविधं ब्रह्म । तद्विद्धि प्रापञ्चिकशिखोपवीतं त्यजेत् ॥ ५ ॥**

पंचपाद (जाग्रत्, स्वप्र, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत) ब्रह्म अपने से पृथक् अविद्यारूप है या नहीं, यह भ्रान्ति कुछ नहीं है अर्थात् वह सर्वमय है। व्यष्टि और समष्टि रूप चतुष्पाद के अन्तर्गत विद्यमान जीवरूप ब्रह्म के चार स्थान हैं—नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा (सिर)। ब्रह्म चार अवस्थाओं में प्राप्त होता है—जाग्रत्, स्वप्र, सुषुप्ति और तुर्य (तुरीय)। आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिण और सभ्य अग्नियों में यथाशक्य आत्मभाव करना चाहिए। जाग्रत्-अवस्था में ब्रह्मा, स्वप्रावस्था में विष्णु, सुषुप्तावस्था में रुद्र तथा तुरीयावस्था में अक्षर चिदरूप ब्रह्म ध्यातव्य है।

अब ब्रह्म को यज्ञोपवीत स्वरूप विवेचित किया जाता है, क्योंकि संन्यासी इसी ब्रह्मरूप यज्ञोपवीत को धारण करता है—चार अवस्थाएँ (जो ऊपर कही गई हैं) ही चार अँगुलियों का वेष्टन है (चार अँगुलियों में लपेट कर ही यज्ञोपवीत का निर्माण किया जाता है) जो छः बार किया जाता है। इसमें १६ तत्त्व लपेटे जाते हैं। इसके तीन विभाग करके ३ गुने ( $3 \times 3 = 9$ ) रूप द्वारा बत्तीस तत्त्वों के निष्कर्ष का सम्पादन करके ज्ञानपूत, त्रिगुण (सत्, रज, तम) रूप (तीन गुण अर्थात् यज्ञोपवीत की तीन लड़ें) और त्रिमूर्ति रूप को पृथक् जानकर, नौ ब्रह्म अर्थात् नौ गुणों (नौ धागों) को जानकर नौ के मान से (परिमाण से) तीन को पुनः तीन गुना करके सूर्य, इन्दु (चन्द्रमा) और अग्नि की कला के स्वरूप से एकीकृत करके फिर आदि, मध्य और अन्त की तीन आवृत्तियाँ करके, ब्रह्मा, विष्णु, और महेश (रुद्र) का अनुसन्धान करके, उन आवृत्तियों को आदि से अन्त तक एक करके चिदग्रथि में अद्वैत ग्रथि बनाकर नाभि से लेकर ब्रह्म बिल (ब्रह्मरन्ध) तक के परिमाण में पृथक्-पृथक् सत्ताईस (२७) तत्त्वों से सम्बन्धित त्रिगुणयुक्त (तीन लड़ों से युक्त), त्रिमूर्तिरूप (तीन अलग-अलग रूपों में) दीखने पर भी उसमें एकत्व सम्पादन करके बाँधें कन्धे से लेकर दाहिने भाग की कमर तक इसकी भावना करके (इसे धारण करके) ही चित्त शुद्ध हो सकता है। इस यज्ञोपवीत के विषय में ऐसा जानना चाहिए कि इसमें प्रारम्भ से अन्त तक विभिन्न तत्त्वों के सम्मेलन में मूल तत्त्व एक ही है— जैसे— मिट्टी से बने हुए कुम्भ आदि विभिन्न पात्र होते हैं, पर उनमें सत्य केवल मिट्टी ही है। इसी प्रकार ब्रह्म निर्मित सभी कुछ ब्रह्म ही है, उससे पृथक् अन्य कोई सत्ता नहीं है। अस्तु सोऽहं (हंस) वही ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा भाव सतत करना ही अन्तर्वर्ती शिखा और यज्ञोपवीतत्व है, ऐसा निश्चय करके ब्राह्मणत्व (ब्रह्म ध्यान की अर्हता-योग्यता) और यतित्व की प्राप्ति होती है। इनके (ब्राह्मणत्व और यतित्व प्राप्त व्यक्तियों की) शिखा और यज्ञोपवीत अलक्षित अर्थात् अन्तर्वर्ती होते हैं। बाहर दीखने वाले कर्म रूप शिखा और ज्ञानरूप उपवीत गृहस्थों के होते हैं। बाहर से दीखने वाले केश समूह शिखा और प्रत्यक्ष कपास के धागों से निर्मित उपवीत तो ब्राह्मणत्व अथवा वैदिक धर्मानुष्ठान योग्यता के आभासक हैं। यज्ञोपवीत के सूत्र चौबीस (२४) तत्त्वों का चौगुना (अर्थात्  $24 \times 4 = 96$ ) अर्थात् छियानवे तत्त्व रूपी ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, यज्ञोपवीत के नौ तत्त्व (धागे) भी ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, यज्ञोपवीत के नौ तत्त्व (धागे) भी ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं। ब्रह्म एक ही है, किन्तु बहुत से लोग अपनी-अपनी बुद्धि से उसकी प्राप्ति के विविध उपायों (सांख्ययोगादि) की कल्पना करते हैं। सभी ब्राह्मणों, देवर्षियों और मनुष्यों के लिए मुक्ति, ब्रह्म और ब्राह्मणत्व एक समान हैं। वर्णश्रिम और आचार पृथक्-पृथक् हैं। वर्णश्रिम व्यवस्था वालों के लिए शिखा का स्वरूप एक ही है। मोक्ष के अधिकारी यति की शिखा और यज्ञोपवीत का मूल प्रणव (ॐकार) ही है, ऐसा कहते हैं। इनके (यतियों के) लिए हंस (ब्रह्मज्ञान) ही शिखा और तुरीय ॐकार (प्रणव) ही उपवीत है तथा नाद ही इन दोनों को जोड़ने वाला अर्थात् सन्धान है।

यही इनका धर्म है, अन्य कोई नहीं। इनका यह धर्म किस प्रकार है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

प्रणव (ॐकार) ही हंस (ब्रह्म) और नाद ही यह त्रिवृत् (तीन लड़ी) वाला सूत्र है। यह अपनी ही महिमा से अपने में स्थित है। वह चैतन्य रूप से हृदय में विराजता है। पर और अपर के भेद से इस ब्रह्म को दो प्रकार से समझना चाहिए। यदि कोई अपने से पृथक् अन्य कुछ नहीं देखता, सब आत्मरूप में ही देखता है, ऐसे मुमुक्षु को प्रपञ्चयुक्त शिखा और यज्ञोपवीत का परित्याग कर देना चाहिए॥ ५ ॥

**सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः । यदक्षरं परंब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ६ ॥**

बुद्धिमानों (अर्थात् उपर्युक्त स्थिति वालों) को शिखा सहित केश कर्तन करके ब्रह्म उपवीत (यज्ञोपवीत) का विसर्जन कर देना चाहिए और अक्षर ब्रह्म को ही सूत्र स्वरूप धारण करना चाहिए॥ ६ ॥

**पुनर्जन्मनिवृत्यर्थं मोक्षस्याहर्निशं स्मरेत् । सूचनात्सूत्रमित्युक्तं सूत्रं नाम परं पदम् ॥ ७ ॥**

पुनर्जन्म से निवृत्ति के लिए सतत मोक्ष का स्मरण करे। सूचना देने वाला होने से ही ब्रह्मरूपी सूत्र को परमपद रूप 'सूत्र' कहा जाता है॥ ७ ॥

**तत्सूत्रं विदितं येन स मुमुक्षुः स भिक्षुकः । स वेदवित्सदाचारः स विप्रः पंक्तिपावनः ॥ ८ ॥**

उस सूत्र (ब्रह्मसूत्र) का जिसे ज्ञान हो गया, वही मुमुक्षु, भिक्षुक, वेदज्ञ, सदाचारी और विप्र है, जो अनेक प्राणियों को पावन करता है॥ ८ ॥

येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव । तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगविद्वाह्यणो यतिः ॥ ९ ॥

जिस परब्रह्म ने इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मणि-मनकों की तरह एक ही सूत्र में पिरोया है, उस सूत्र को धारण करने वाला योगी, योगविद् ब्राह्मण और यति होता है॥ ९ ॥

**बहिःसूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ञानतत्परः । ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स मुक्तिभाक् । नाशुचित्वं न चोच्छिष्टं तस्य सूत्रस्य धारणात् ॥ १० ॥**

ब्राह्मण, योगविद् और ज्ञानतत्पर व्यक्ति को चाहिए कि वह बाहरी सूत्र का परित्याग कर दे; क्योंकि जो ब्रह्मभाव युक्त सूत्र को धारण करता है, वह मुक्ति का अधिकारी होता है। उस (ब्रह्मभावमय) सूत्र को धारण करने में किसी प्रकार की अपवित्रता, उच्छिष्टता (जूठा होना) नहीं रहती॥ १० ॥

**सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् । ते तु सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥ ११ ॥**

संसार में जिन यज्ञोपवीतधारियों के यज्ञोपवीत (सूत्र) के अन्तर्गत ज्ञान समाहित है, वे ही इस जगत् में सूत्रविद् और सच्चे यज्ञोपवीतधारी हैं॥ ११ ॥

**ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः । ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमीरितम् ॥ १२ ॥**

जो ज्ञानरूपी शिखा, ज्ञान की निष्ठा और ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, उनके लिए ज्ञान ही सर्वस्व है; क्योंकि ज्ञान को परम पवित्र कहा गया है॥ १२ ॥

**अग्रेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा । स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ १३ ॥**

जिनकी अग्नि के समान तेजस्वी ज्ञानरूपी शिखा है, अन्य कोई जिनकी शिखा नहीं है, वस्तुतः वे ही शिखी (चोटी वाले) हैं, शेष तो मात्र केशधारी हैं, ऐसा विद्वान् कहते हैं॥ १३ ॥

**कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके लौकिकेऽपि वा । ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरकाः । व्रजन्ते निरयं ते तु पुनर्जन्मनि जन्मनि ॥ १४ ॥**

जो वैदिक (यज्ञादि) कर्मों अथवा लौकिक (आहार-विहार आदि) कर्मों में निरत हैं, वे तो आभास मात्र ब्राह्मण हैं; क्योंकि वे केवल उदर-पूर्ति के लिए जीते हैं, ऐसे लोग प्रत्येक जन्म के अन्त में नरक में जाते हैं (अथवा संसार के इस जन्म-मृत्यु रूपी नरक में विविध कष्ट सहते हैं)॥ १४ ॥

वामांसदक्षकट्यन्तं ब्रह्मसूत्रं तु सव्यतः । अन्तर्बहिरिवात्यर्थं तत्त्वतन्तुसमन्वितम् ।  
नाभ्यादिब्रह्मरन्धान्तप्रमाणं धारयेत्सुधीः ॥ १५ ॥

सुधी (विद्वान्) के लिए उचित है कि वह बाँयें कन्धे से दाहिनी कमर पर्यन्त ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) धारण करे। यह तो बाह्य यज्ञोपवीत की बात हुई, इसी प्रकार अन्तर में परमतत्त्व रूप तन्तु (धागे) से निर्मित ब्रह्मसूत्र नाभि से ब्रह्मरन्ध पर्यन्त यथा प्रमाण (परिमाण) धारण करे ॥ १५ ॥

तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तन्तुनिर्मितम् । शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।  
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किंचन ॥ १६ ॥

इस प्रकार परमतत्त्व रूपी तन्तु से निर्मित विविध क्रियाओं के अङ्ग रूप इस ब्रह्मसूत्र को धारण करना चाहिए। जिसकी शिखा और यज्ञोपवीत ज्ञानमय होते हैं, उसके लिए सब कुछ ब्रह्ममय है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ १६ ॥

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् । विद्वान्यज्ञोपवीती संधारयेद्यः स मुक्तिभाक् ॥ १७ ॥

जो विद्वान् इस परम तत्त्व रूपी और ब्रह्मपरायण यज्ञोपवीत को धारण करता है, वही सच्चा यज्ञोपवीती और मुक्ति का अधिकारी है ॥ १७ ॥

बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः संन्यस्तुमर्हति । एकयज्ञोपवीती तु नैव संन्यस्तुमर्हति ॥ १८ ॥

जो बाहर और अन्दर दोनों प्रकार से यज्ञोपवीत धारण करता है, वही विप्र वस्तुतः संन्यास का अधिकारी है अर्थात् बाह्य यज्ञोपवीत धारण कर लौकिक-वैदिक कर्मों को विधिवत् सम्पन्ने करते हुए आन्तरिक यज्ञोपवीत द्वारा जिसके अन्दर ब्रह्मतत्त्व जिज्ञासा से वैराग्य वृत्ति उत्पन्न हो गई हो, वही संन्यास का अधिकारी है। केवल एक (बाह्य) यज्ञोपवीत धारण करने वाला विप्र संन्यास का अधिकारी नहीं है ॥ १८ ॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मोक्षापेक्षी भवेद्यतिः । बहिःसूत्रं परित्यज्य स्वान्तःसूत्रं तु धारयेत् ॥ १९ ॥

इसलिए यति को चाहिए कि वह सभी प्रयत्नों से मोक्षापेक्षी (मुमुक्षु) बने तथा बाह्यसूत्र का परित्याग करके अपने अन्दर सूत्र को धारण करे ॥ १९ ॥

बहिःप्रपञ्चशिखोपवीतित्वमनादृत्य प्रणवहंसशिखोपवीतित्वमवलम्ब्य मोक्षसाधनं  
कुर्यादित्याह भगवाञ्छौनक इत्युपनिषत् ॥ २० ॥

(अन्त में) भगवान् शौनक ने कहा कि बाहरी प्रपञ्चमय शिखा और यज्ञोपवीत का परित्याग करके प्रणव हंस (अँकार ब्रह्म) रूपी शिखा तथा यज्ञोपवीत का अवलम्बन लेकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करे। ऐसी यह रहस्यमयी विद्या है ॥ २० ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति: शान्तिः ॥

॥ इति परब्रह्मोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अर्थवेद से सम्बद्ध है। गद्यात्मक इस उपनिषद् में ५ बड़े अनुच्छेद हैं, जिसमें परमहंस-परिव्राजक के लक्षण, परिव्रजन के अधिकारी, परिव्रज्या प्राप्ति की विधि आदि का विवेचन किया गया है।

उपनिषद् का शुभारम्भ पितामह ब्रह्मा द्वारा अपने पिता आदिनारायण से परमहंस परिव्राजक विषयक प्रश्न से हुआ है। नारायण ने उत्तर देते हुए कहा कि पहले व्यक्ति को वर्णाश्रम धर्म की मर्यादाओं का पालन करना चाहिए। तदुपरात्त क्रमशः संन्यास ग्रहण करना चाहिए। संन्यास ग्रहण की विधि का उल्लेख करते हुए नारायण ने आगे उसकी जीवनचर्या पर प्रकाश डाला है। पुनः ब्रह्माजी के पूछने पर नारायण ने ब्रह्म-प्रणव का रहस्य समझाते हुए कहा है कि यह 'ब्रह्म प्रणव' षोडशमात्रात्मक होता है। इसे भली प्रकार जानकर इसकी उपासना करने वाला परमहंस अन्ततः विदेह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति की प्राप्ति के बाद शिखा, यज्ञोपवीत आदि बाह्य उपचारों की आवश्यकता नहीं रहती। उसे अन्य मन्त्र-तन्त्र, उपासना-ध्यान की भी आवश्यकता नहीं रहती। वह तो ब्रह्म-प्रणव के अनुसन्धानपूर्वक सच्चिदानन्द, अद्वैत, चिद्घन स्वरूप 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी भावना से अपने जीवन को कृतकृत्य बना लेता है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य-अर्थवर्शिर उपनिषद )

अथ पितामहः स्वपितरमादिनारायणमुपसमेत्य प्रणम्य पप्रच्छ । भगवंस्त्वन्मुखा-द्वृणाश्रमधर्मक्रमं सर्वं श्रुतं विदितमवगतम् । इदानीं परमहंसपरिव्राजकलक्षणं वेदितुमिच्छामि कः परिव्रजनाधिकारी, कीदृशं परिव्राजकलक्षणं, कः परमहंसः, परिव्राजकत्वं कथं, तत्सर्वं मे ब्रूहीति । स होवाच भगवानादिनारायणः ॥ १ ॥

(एक बार) पितामह (ब्रह्मा) ने अपने पिता आदि नारायण के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके पूछा— हे भगवन् ! आपके श्रीमुख से सुनकर वर्णाश्रम धर्म का क्रम तो मैंने पूरी तरह जान लिया है। अब मैं परमहंस परिव्राजक के लक्षण जानने की इच्छा रखता हूँ। परिव्रजन का अधिकारी कौन है ? परिव्राजक के क्या लक्षण हैं ? परमहंस कौन है ? परिव्राजकत्व कैसे प्राप्त होता है ? यह सब मुझे बताने की कृपा करें। भगवान् आदि-नारायण ने कहा— ॥ १ ॥

सद्गुरुसमीपे सकलविद्यापरिश्रमज्ञो भूत्वा विद्वान्सर्वमैहिकामुष्मिकसुखश्रमं ज्ञात्वैषणा-त्रयवासनात्रयममत्वाहंकारादिकं वमनात्रमिव हेयमधिगम्य मोक्षमार्गेकसाधनो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृहाद्वन्नी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदगृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदिति बुद्ध्वा सर्वसंसारेषु विरक्तो ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा पितरं मातरं कलत्रपुत्रमासबन्धुर्वर्गं तदभावे शिष्यं सहवांसिनं वाऽनुमोदयित्वा तद्वैके प्राजापत्या-मेवेष्टि कुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यात् । आग्रेष्यामेव कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया

करोति । त्रैधातवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति । अयं ते योनिन्द्रित्वियो यतो जातो अरोचथा: । तं जानन्नग्र आरोहाथा नो वर्धया रयिमित्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिष्ठेत् । एष वा अग्रेयोनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह । ग्रामाच्छ्वेत्रियागारादग्निमाहृत्य स्वविध्युक्तक्रमेण पूर्ववदग्निमाजिष्ठेत् । यद्यातुरो वाग्निं न विद्दे-दप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्दृत्य प्राश्रीयात् सञ्ज्यं हविरनामयम् । एष विधिर्वीराध्वाने वाऽनाशके वापां प्रवेशे वाऽग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा । यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा वा संन्यसेदेष पन्थाः ॥ २ ॥

सदगुरु के समीप परिश्रमपूर्वक समस्त विद्याओं का ज्ञाता होकर वह विद्वान् इहलौकिक और पारलौकिक सुखों को श्रम स्वरूप (श्रमसाध्य) जानकर एषणात्रय (पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा), वासनात्रय (देह, मन तथा बुद्धिजन्य मिथ्या संस्कार), ममत्व और अहंकारादि को वमन किए (उगले हुए) अन्न के समान हेय समझ कर मोक्षपथ के एकमात्र साधन ब्रह्मचर्य को पूरा करके (अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात्) गृहस्थ बने । गृहस्थ धर्म के पालन के बाद 'वनी' (वानप्रस्थी) बने, तब परिव्राजक संन्यासी बने । (यह सामान्य अनुशासन है) इसके अतिरिक्त विशेष संदर्भों में किसी भी आश्रम-ब्रह्मचर्याश्रम से अथवा गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से भी प्रब्रज्या में प्रवेश कर सकता है । अतः ब्रती हो या अब्रती, स्नातक हो या अस्नातक, अग्निहोत्र करने वाला हो अथवा न हो, जब भी विरक्ति उत्पत्ति हो जाए, तभी संन्यास ग्रहण करके परिव्राजक हो जाना चाहिए । संसार से सभी प्रकार से विरक्त ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी अपने माता, पिता, पती, पुत्र, सम्बन्धी, बन्धुओं और उनके अभाव में शिष्यों अथवा साथ में रहने वालों से सम्मति लेकर प्राजापत्य इष्टि (यज्ञ) करते हैं । उन्हें वैसा नहीं करना चाहिए । आग्रेयी इष्टि ही करनी चाहिए । अग्नि ही प्राण है । इसके (अग्नि) द्वारा ही प्राण क्रिया करता है-ऐसा भाव करते हुए त्रैधातवी (इष्टि) करे । सत्त्व, रज और तम ये ही त्रिधातु हैं । इसके पश्चात् इस मंत्र से अग्नि को सूँधे 'हे अग्निदेव ! यह प्राण आपका कारण रूप है, यह जानते हुए आप इसमें प्रवेश करें । आप प्राण से उद्भूत हैं । इसलिए आप हमें प्रकाश और वृद्धि प्रदान करें ।' हे अग्निदेव ! आप अपने योनि स्थल (प्राण) में प्रविष्ट हों, अपने उत्पत्ति स्थल में गमन करें । 'स्वाहा' इस प्रकार ऐसा कहा गया है । ग्राम के श्रोत्रिय के घर से अग्नि लाकर पूर्वोक्त विधि से अग्नि को सूँधे । यदि आतुरतापूर्ण भाव हो और अग्नि उपलब्ध न हो, तो जल में ही हवन करे । 'आपः' (जल) ही समस्त देवताओं का स्वरूप है 'समस्त देवताओं के निमित्त हवन कर रहा हूँ' ऐसा भाव करते हुए स्वाहा सहित आहुति प्रदान करे । तत्पश्चात् हवन किए हुए पदार्थ को उठाकर, घृत सहित हवि को ग्रहण (भक्षण) करे । इस विधि का प्रयोग वीर मार्ग में अथवा अनशन द्वारा शरीर छोड़ने के क्रम में अथवा जल प्रवेश में अथवा अग्नि प्रवेश में अथवा महाप्रस्थान में किया जाता है । यदि आतुरता हो, तो मन अथवा वाणी से संन्यास की विधि सम्पत्र कर लेनी चाहिए, यही मार्ग है ॥ २ ॥

स्वस्थक्रमेणैव चेदात्मश्राद्धं विरजाहोमं कृत्वाऽग्निमात्मन्यारोप्य लौकिकवैदिकसामर्थ्यं स्वचतुर्दशकरणप्रवृत्तिं च पुत्रे समारोप्य तदभावे शिष्ये वा तदभावे स्वात्मन्येव वा ब्रह्मा त्वं यज्ञस्वमित्यभिमन्त्र्य ब्रह्मभावनया ध्यात्वा सावित्रीप्रवेशपूर्वकमप्सु सर्वविद्यार्थस्वरूपां ब्राह्मण्याधारां वेदमातरं क्रमाद्व्याहृतिषु त्रिषु प्रविलाप्य व्याहृतित्रयमकारोकारमकारेषु प्रविलाप्य तत्सावधानेनापः प्राश्य प्रणवेन शिखामुत्कृष्य यज्ञोपवीतं छित्त्वा वस्त्रमपि भूमौ वाऽप्सु वा विसृज्य अँ भूः स्वाहा अँ भुवः स्वाहा अँ सुवः स्वाहेत्यनेन जातसूपधरो भूत्वा

**स्वं रूपं ध्यायन्पुनः**: पृथक् प्रणवव्याहृतिपूर्वकं मनसा वचसापि संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति मन्द्रमध्यमतारध्वनिभिस्त्रिवारं त्रिगुणीकृतपैषोच्चारणं कृत्वा प्रणवैकध्यानपरायणः सत्रभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेत्यूर्ध्वबाहुर्भूत्वा ब्रह्माहमस्मीति तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थस्वरूपानुसंधानं कुर्वन्नुदीचीं दिशं गच्छेत्। जातरूपधरश्चरेत्। एष संन्यासः ॥ ३८

**स्वस्थ क्रम से आत्मश्राद्ध** एवं विरजा होम (संन्यास ग्रहण के समय किया जाने वाला यज्ञ विशेष) करके अग्नि को आत्मा में आरोपित करके अपनी लौकिक और वैदिक सामर्थ्य को तथा अपनी चतुदेशकरण प्रवृत्ति को पुत्र में आरोपित करे। पुत्र के न होने पर शिष्य में और शिष्य के अभाव में अपनी आत्मा में ही आरोपित कर दे। इसके पश्चात् 'ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं' मंत्र का उच्चारण करके, भावनापूर्वक ब्रह्म का ध्यान करके सावित्री में प्रवेश करे। तब अप्तत्त्व (जल) में समस्त विद्याओं के अर्थरूप, ब्राह्मण की आधाररूपा वेदमाता (गायत्री) को व्याहृतित्रय (भूः, भुवः, स्वः) में विलीन करके इन तीनों व्याहृतियों को अकार, उकार और मकार [अ, उ, म् (ॐ)] में विलीन करे। इसके पश्चात् सावधान होकर जल का पान करे। इसके बाद प्रणव (ॐ) मंत्र का उच्चारण करते हुए शिखा को त्यागकर, यज्ञोपवीत को काटकर, वस्त्रों को भूमि अथवा जल में विसर्जित कर, ॐ भूः स्वाहा, ॐ भुवः स्वाहा, ॐ स्वः स्वाहा, इस मन्त्र से जातरूपधर (शिशुवत् निश्छल) होकर अपने स्वरूप का ध्यान करे। फिर पृथक् प्रणव और व्याहृतिपूर्वक मन और वाणी से भी 'मैंने संन्यास लिया, मैंने संन्यास लिया, मैंने संन्यास लिया, ऐसा मन्द्र, मध्य और तार सप्तक की ध्वनि में तीन बार तीन गुना प्रैष मंत्र उच्चारण करके कहे। तत्पश्चात् 'प्रणव' का ध्यान करते हुए समस्त प्राणियों को मैं अभयदान कर रहा हूँ—ऐसा भुजा उठाकर बोले कि 'मैं ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि), 'तुम वही (ब्रह्म) हो' (तत्त्वमसि) आदि और इन्हीं महावाक्यों के अर्थ पर चिन्तन करता हुआ अपने वास्तविक स्वरूप के अनुसंधान हेतु निर्लिप्त होकर उत्तर दिशा में जाकर विचरण करे—यही संन्यास (धर्म) है ॥ ३-क ॥

**तदधिकारी न भवेद्यदि गृहस्थप्रार्थनापूर्वकमभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते सखा मा गोपायौजःसखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वात्रघ्नः**: शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेत्यनेन मन्त्रेण प्रणवपूर्वकं सलक्षणं वैणवं दण्डं कटिसूत्रं कौपीनं कमण्डलुं विवर्णवस्त्रमेकं परिगृह्य सद्गुरुमुपगम्य नत्वा गुरुमुखात्तत्त्वमसीति महावाक्यं प्रणवपूर्वकमुपलभ्याथ जीर्णवल्कलाजिनं धृत्वाथ जलावतरणमूर्ध्वगमनमेकभिक्षां परित्यज्य त्रिकालस्नानमाच-रन्वेदान्तश्रवणपूर्वकं प्रणवानुष्ठानं कुर्वन्नब्रह्मार्गं सम्यक्संपन्नः स्वाभिमतमात्मनि गोपयित्वा निर्ममोऽध्यात्मनिष्ठः कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यदभदर्पाहं कारासूयागर्वेच्छाद्वेषहर्षा मर्षममत्वादींश्च हित्वा ज्ञानवैराग्ययुक्तो वित्तस्त्रीपराद्भुखः शुद्धमानसः सर्वोपनिषदर्थमा लोच्य ब्रह्मचर्यापरिग्रहाहिंसासत्यं यत्रेन रक्षजितेन्द्रियो बहिरन्तः स्नेहवर्जितः शरीरसंधारणार्थं चतुर्षु वर्णेष्वभिशस्तपतितवर्जितेषु पशुद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति ॥३-ख ॥

यदि इस विधि का अधिकारी न हो—अर्थात् दिग्म्बर वृत्ति न अपना सके, तो दूसरी विधि कहते हैं। वह गृहस्थ प्रार्थना पूर्वक समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करे। कहे—हे सखा! तुम मेरे बल का रक्षण करो। तुम वृत्रासुर को भारने वाले इन्द्र के वज्र हो, मेरे लिए शान्ति प्रदायक हो, मुझे पापों से मुक्त करो, इस मन्त्र का प्रणवपूर्वक उच्चारण करके, श्रेष्ठ लक्षण युक्त (दोषमुक्त) बाँस के दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, कमण्डलु और एक गेरुआ वस्त्र को धारण करके सदगुरु के निकट जाकर उन्हें प्रणाम करे और उन (गुरुदेव) से प्रणवपूर्वक 'तत्त्वमसि' महावाक्य को प्राप्त करे (श्रवण करे)। इसके उपरान्त जीर्ण वल्कल अथवा मृगचर्म धारण करके

जल में उतरना, ऊपर चढ़ना तथा एक ही (घर की) भिक्षा का परित्याग करके (अर्थात् कई घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेकर), त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न और सायं) ज्ञान के नियम का आचरण करते हुए वेदान्त दर्शन का श्रवण और प्रणव (ॐकार) का अनुष्ठान सम्पन्न करे। ब्रह्म मार्ग में विस्तृत (सम्यक्) ज्ञान प्राप्त करके, अपने मत (भावनाओं) को आत्मा (मन) में छिपाकर रखते हुए अपने को ममतारहित और अध्यात्मनिष्ठ बनाए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दम्भ, दर्प, अहंकार, असूया, गर्व, इच्छा, द्वेष, हर्ष, अमर्ष, ममत्व आदि का परित्याग करके, ज्ञान वैराग्य से युक्त होकर, कञ्चन और कामिनी से पराङ्मुख होकर, शुद्ध मन से समस्त उपनिषदों की समालोचना करके ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य आदि की यत्नपूर्वक रक्षा करते हुए जितेन्द्रिय बने। बाह्याभ्यन्तर से रागरहित होकर शरीर रक्षण के लिए चारों वर्णों में पतितों (अनुशासनों से गिरे हुओं) को छोड़कर किसी वर्ण के सदाचारी गृहस्थों से भी उसी प्रकार निर्वैर होकर भिक्षा ग्रहण कर ले, जैसे पशु बिना भेद-भाव के आहार ग्रहण करता है। ऐसा करने वाला सबमें ब्रह्म भाव रखता है ॥ ३-ख ॥

सर्वेषु कालेषु लाभालाभौ समौ कृत्वा करपात्रमाधूकरेणान्नमश्नेदोवृद्धिमकुर्वन्कृशी-  
भूत्वा ब्रह्माहमस्मीति भावयन्नुर्वर्थं ग्राममुपेत्य ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरेदद्वावेवा-  
चरेत्। यदालंबुद्धिर्भवेत्तदा कुटीचको वा बहूदको वा हंसो वा परमहंसो वा तत्तन्मन्त्रपूर्वकं  
कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत्। ग्राम एकरात्रं  
तीर्थे त्रिरात्रं पत्तने पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रमनिकेतः स्थिरमतिरनग्रिसेवी निर्विकारो नियमानिय-  
ममुत्सृज्य प्राणसंधारणार्थमयमेव लाभालाभौ समौ कृत्वा गोवृत्या भैक्षमाचरन्नुदकस्थलक-  
मण्डलुरबाधकरहस्यस्थलवासो न पुनर्लाभालाभरतः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः सर्वत्र भूतल-  
शयनः क्षौरकर्मपरित्यक्तो मुक्तचातुर्मास्यव्रतनियमः शुक्लध्यानपरायणोऽर्थस्त्रीपुरपराङ्-  
मुखोऽनुन्मत्तोऽप्युन्मत्तवदाचरन्व्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः स्वरूपानु-  
संधानब्रह्मप्रणवध्यानमार्गेणावहितः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसपरिव्राजको भवति ॥

समस्त कालों में लाभ-हानि को समान मानता हुआ हाथ (करपात्र) में ही अल्प भिक्षा ग्रहण करे। शरीर मोटा न करके कृशकाय होकर, मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा भाव करते हुए आठ महीने तक गुरु के निमित्त अडिग होकर भिक्षाशील होकर एकाकी विचरण करे। जब सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाए, तब कुटीचक अथवा बहूदक अथवा हंस अथवा परमहंस होकर मंत्रपूर्वक कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड और कमण्डलु आदि सभी को जल में विसर्जित करके जातरूपधर (शिशुवत् निर्लिप्त) होकर विचरण करे। (विचरण के अन्तराल में) ग्राम में एक रात्रि, तीर्थ में तीन रात्रि, नगर में पाँच रात्रि और क्षेत्र में सात रात्रि तक निवास करता हुआ वह अनिकेत (घर रहित), स्थिर बुद्धि, निरग्रिसेवी (अग्नि का सेवन न करने वाला), निर्विकार, नियम-अनियम का परित्याग करने वाला, लाभ और हानि को समान समझने वाला, मात्र प्राण धारण के लिए गोवृत्ति से भिक्षा ग्रहण करने वाला हो। जलस्थल (जलाशय) को ही वह कमण्डलु माने और अबाध (बाधा रहित एकान्त) स्थान में ही रहे। लाभ-हानि के विचार में रत न हो, सर्वत्र भूतल पर शयन करे, क्षौर कर्म (हजामत का कार्य) त्याग दे। चातुर्मास्य आदि व्रतों के नियमों से मुक्त रहे और मात्र शुक्ल (सात्त्विक) ध्यान परायण रहे। धन-सम्पदा, स्त्री और नगर से पराङ्मुख रहे और ज्ञान-सम्पन्न होने पर भी प्रत्यक्षतः उन्मत्त की तरह रहे। अपने लिङ्ग और आचार को अव्यक्त रहने दे। दिन और रात्रि को समान भाव से देखने के कारण वह सदैव अस्वप्न अर्थात् जाग्रत्-अवस्था में ही रहे। अस्तु, जो निज स्वरूप के अनुसंधान और प्रणव के ध्यान में रत रहकर संन्यास पथ के द्वारा देह का परित्याग करता है, वह परमहंस-परिव्राजक होता है ॥ ३-ग ॥

भगवन् ब्रह्मप्रणवः कीदृश इति ब्रह्मा पृच्छति । स होवाच नारायणः । ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्मकः सोऽवस्थाचतुष्टयगोचरः । जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्त्रोऽवस्थाः स्वप्रे स्वप्रादिचतस्त्रोऽवस्थाः सुषुप्तौ सुषुप्त्यादिचतस्त्रोऽवस्थास्तुरीये तुरीयादिचतस्त्रोऽवस्था भवन्तीति । व्यष्टिजाग्रदवस्थायां विश्वस्य चातुर्विध्यं विश्वविश्वो विश्वतैजसो विश्वप्राज्ञो विश्वतुरीय इति । व्यष्टिस्वप्रावस्थायां तैजसस्य चातुर्विध्यं तैजसविश्वस्तैजसतैजसस्तै-जसप्राज्ञस्तैजसतुरीय इति । सुषुप्त्यवस्थायां प्राज्ञस्य चातुर्विध्यं प्राज्ञविश्वः प्राज्ञतैजसः प्राज्ञप्राज्ञः प्राज्ञतुरीय इति । तुरीयावस्थायां तुरीयस्य चातुर्विध्यं तुरीयविश्वस्तुरीयतैजसस्तुरीयप्राज्ञस्तु-रीयतुरीय इति । ते क्रमेण षोडशमात्रारूढा अकारे जाग्रद्विश्व उकारे जाग्रत्तैजसो मकारे जाग्रत्प्राज्ञ अर्धमात्रायां जाग्रत्तुरीयो बिन्दौ स्वप्रविश्वो नादे स्वप्रतैजसः कलायां स्वप्रप्राज्ञः कलातीते स्वप्रतुरीयः शान्तौ सुषुप्तविश्वः शान्त्यतीते सुषुप्ततैजस उन्मन्यां सुषुप्तप्राज्ञो मनोन्मन्यां सुषुप्ततुरीयः तुर्या तुरीयविश्वो मध्यमायां तुरीयतैजसः पश्यन्यां तुरीयप्राज्ञः परायां तुरीयतुरीयः । जाग्रन्मात्राचतुष्टयमकारांशं स्वप्रमात्राचतुष्टयमुकारांशं सुषुप्तिमात्राचतुष्टयं मकारांशं तुरीयमात्राचतुष्टयमर्धमात्रांशम् । अयमेव ब्रह्मप्रणवः । स परमहंसतुरीयातीतावधूतैरुपास्यः । तेनैव ब्रह्म प्रकाशते तेन विदेहमुक्तिः ॥ ४ ॥

ब्रह्मा जी ने (आदि पिता नारायण से) आगे प्रश्न किया-हे भगवन्! ब्रह्म प्रणव कैसा होता है? आदिनारायण ने कहा-ब्रह्म प्रणव षोडशमात्रात्मक होता है। चारों अवस्थाओं में प्रत्येक की चार-चार स्थितियों के संयोग से इनकी संख्या सोलह हो जाती है। जाग्रत् अवस्था में जाग्रत् आदि चारों (जाग्रत्, स्वप्र, सुषुप्ति, तुरीय) अवस्थाएँ, स्वप्रावस्था में स्वप्र आदि चारों (स्वप्र, जाग्रत्, सुषुप्ति, तुरीय) अवस्थाएँ, सुषुप्तावस्था में सुषुप्ति आदि चारों (सुषुप्ति, जाग्रत्, स्वप्र, तुरीय) अवस्थाएँ तथा तुरीयावस्था में तुरीय आदि चारों (तुरीय, जाग्रत्, स्वप्र, सुषुप्ति) अवस्थाएँ रहती हैं। व्यष्टि जाग्रत् अवस्था में विश्व के चार स्वरूप होते हैं, विश्व-विश्व, विश्व तैजस, विश्व प्राज्ञ और विश्व तुरीय। व्यष्टि स्वप्रावस्था में तैजस के चार रूप होते हैं-तैजस विश्व, तैजस-तैजस, तैजस प्राज्ञ और तैजस तुरीय। इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ चार प्रकार के होते हैं-प्राज्ञ विश्व, प्राज्ञ तैजस, प्राज्ञ-प्राज्ञ और प्राज्ञ तुरीय। तुरीयावस्था में तुरीय के भी चार प्रकार होते हैं-तुरीय विश्व, तुरीय तैजस, तुरीय-तुरीय और तुरीय प्राज्ञ। इस प्रकार यह (ब्रह्म प्रणव) षोडशमात्रारूढ़ रहता है। अकार में जाग्रत् विश्व, उकार में जाग्रत् तैजस और मकार में जाग्रत् प्राज्ञ होता है। अर्धमात्रा में जाग्रत् तुरीय, बिन्दु में स्वप्र विश्व, नाद में स्वप्र तैजस, कला में स्वप्र प्राज्ञ और कलातीत में स्वप्र तुरीय होता है। शान्ति में सुषुप्त विश्व, शान्ति अतीत में सुषुप्त तैजस, उन्मनी अवस्था में सुषुप्त-प्राज्ञ और मनोन्मनी अवस्था में सुषुप्त तुरीय होता है। तुर्या (वैखरी) में तुरीय विश्व, मध्यमा में तुरीय तैजस, पश्यन्ती में तुरीय प्राज्ञ और परा में तुरीय-तुरीय होता है। (प्रणव ३० के) जाग्रत् अवस्था की चार मात्राएँ अकार अंश की, स्वप्रावस्था की चार मात्राएँ उकार अंश की, सुषुप्ति अवस्था की चार मात्राएँ मकार अंश की और तुरीयावस्था की चार मात्राएँ अर्धमात्रा के अंश की हैं। यही ब्रह्म प्रणव है। यह (ब्रह्मप्रणव) ही परमहंस तुरीयातीत अवधूतों द्वारा उपास्य है। इसी के द्वारा ब्रह्म प्रकाशित होता है। इसी से विदेह मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ४ ॥

भगवन् कथमयज्ञोपवीत्यशिखी सर्वकर्मपरित्यक्तः कथं ब्रह्मनिष्ठापरः कथं ब्राह्मण इति ब्रह्मा पृच्छति । स होवाच विष्णुर्भोऽर्भक यस्यास्त्यद्वैतमात्मज्ञानं तदेव यज्ञोपवीतम् ।

तस्य ध्याननिष्ठैव शिखा । तत्कर्म स पवित्रम् । स सर्वकर्मकृत् । स ब्राह्मणः । स ब्रह्मनिष्ठापरः । स देवः । स ऋषिः । स तपस्वी । स श्रेष्ठः । स एव सर्वज्येष्ठः । स एव जगद्गुरुः । स एवाहं विद्धि । लोके परमहंसपरिव्राजको दुर्लभतरो यद्येकोऽस्ति । स एव नित्यपूतः । स एव वेदपुरुषो महापुरुषो यस्तच्चित्तं मध्येवावतिष्ठते । अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः । स एव नित्यतृप्तः । स शीतोष्णासुखदुःखमानावमानवर्जितः । स निन्दामर्षसहिष्णुः । स षड्भावविकारशून्यः । स ज्येष्ठाज्येष्ठव्यवधानरहितः । स स्वव्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा । आशाम्बरो ननमस्कारो नस्वाहाकारो नस्वधाकारश्च नविसर्जनपरो निन्दास्तुतिव्यतिरिक्तो नमन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यानशून्यो लक्ष्यालक्ष्यनिवर्तकः सर्वोपरतः । स सच्चिदानन्दाद्वयचिद्धनः सम्पूर्णानन्दैकबोधो ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनवरतं ब्रह्मप्रणवानुसंधानेन यः कृतकृत्यो भवति स ह परमहंसपरिव्राडित्युपनिषत् ॥ ५ ॥

ब्रह्मा ने पुनः प्रश्न किया- हे भगवन् ! अयज्ञोपवीती, अशिखी एवं समस्त कर्मों का परित्याग कर देने वाला ब्रह्मनिष्ठ परायण ब्राह्मण कैसे हो सकता है ? भगवान् विष्णु ने कहा- अद्वैतरूप आत्मज्ञान ही जिसका यज्ञोपवीत है और ध्यान निष्ठा ही जिसकी शिखा है, वह अपने सत्कर्म से पवित्र हो जाता है । सम्पूर्ण कर्मों को वह कर चुका है । वह ब्राह्मण है, वह ब्रह्मनिष्ठ परायण है, वह देव है, वह ऋषि है, वह तपस्वी है, वह श्रेष्ठ है, सर्वज्येष्ठ एवं जगद्गुरु है, वह मैं ही हूँ ऐसा जानना चाहिए । इस लोक में परमहंस परिव्राजक दुर्लभ है । यदि कोई एकाध (परमहंस) होता है, तो वह नित्यपावन और वेद पुरुष है । वह महापुरुष जिसका चित्त मुझमें ही अवस्थित रहता है, मैं उसमें अवस्थित रहता हूँ । वही नित्य तृप्त होता है । वह सर्दी-गर्मी, मान-अपमान और सुख-दुःख से रहित होता है । वह निन्दा और क्रोध को सहन कर लेने वाला होता है तथा षड्भार्मियों से रहित होता है । वह षट्भाव विकारों से शून्य होता है । उसकी दृष्टि में बड़े-छोटे का कोई भेद नहीं रहता अर्थात् वह सबके प्रति समान दृष्टि रखता है । वह (सर्वत्र) अपने आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखता । दिशाएँ ही उसके वस्त्र हैं । वह नमस्कार, स्वाहाकार, स्वधाकार और विसर्जन कुछ भी नहीं करता है । वह निन्दा-स्तुति से परे होता है । वह मन्त्र-तन्त्र की उपासना भी नहीं करता । वह किसी अन्य देव का भी ध्यान नहीं करता । वह लक्ष्य-अलक्ष्य से रहित होता है । वह सभी से उपरत रहता है । वह सच्चिदानन्द, अद्वैत, चिदघन और सम्पूर्ण आनन्द के बोधवाला 'मैं ब्रह्म हूँ'-ऐसी अनवरत भावना रखने वाला है । जो ब्रह्म प्रणव के अनुसंधान से कृतकृत्य हो जाता है, उसे ही परमहंस परिव्राजक कहते हैं, ऐसा इस उपनिषद् का मत है ॥ ५ ॥

[ अन्तरंग यज्ञोपवीत और अन्तरंग शिखा का विस्तार से उल्लेख 'परब्रह्मोपनिषद्' में किया गया है । ]

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ परमहंसोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय है। इस लघुकाय (कुल ४ मन्त्र) उपनिषद् में महामुनि नारद ने भगवान् ब्रह्मा जी से 'परमहंस' की स्थिति और मार्ग के विषय में पूछा है। जिसके उत्तर में भगवान् ब्रह्मा ने परमहंस का स्वरूप, उसका वेश-विन्यास, प्रमुख दीक्षा, उसका व्यवहार आदि विस्तार से बताया है। इससे विपरीत आचरण करने वाले को संन्यास के नाम पर कलंक स्वरूप और घोर रौरव नरक में जाने वाला बताया है। परमहंस को स्वर्ण आदि धन किसी भी स्थिति में अपने पास नहीं रखना चाहिए, यदि कोई ऐसा करता है, तो वह ब्रह्म हत्या, चाण्डाल एवं आत्महत्या सदृश स्थिति में पहुँच जाता है। परमहंस तो आसकाम, कामनाशून्य, सुख-दुःख, राग-द्वेष, शुभाशुभ आदि से ऊपर होता है। वह जितेन्द्रिय, आत्मस्थ और पूर्णानन्द-पूर्णबोध स्वरूप होता है। यही जीवन की सर्वोच्च स्थिति है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपगत्योवाच । तं भगवानाह । योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतस्थः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते महापुरुषो यच्चित्तं तत्सर्वदा मय्येवावतिष्ठते तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते । असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्धवादीज्ञिखायज्ञोपवीतं स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय च लोकस्योपकारार्थाय च परिग्रहेत् । तच्च न मुख्योऽस्ति कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यः ॥१ ॥

एक बार नारद मुनि ने भगवान् (ब्रह्मा) के पास जाकर पूछा—योगी पुरुषों में जो परमहंस हैं, उनकी स्थिति कैसी होती है और उनका मार्ग कौन सा है? यह सुनकर भगवान् ने कहा—परमहंसों का मार्ग इस जगत् में अति दुर्लभ है, ऐसे व्यक्ति संसार में बहुत कम ही होते हैं। परमहंस संन्यासी एकाधि ही मिलते हैं, वे नित्य पवित्र भाव में स्थित रहते हैं। ऐसे परमहंस ही वेद-पुरुष हैं; ऐसा विद्वज्ञ मानते हैं। ऐसे महापुरुष का चित्त सदैव मुझमें ही अधिष्ठित रहता है और मैं भी उस महापुरुष में ही स्थित रहता हूँ। परमहंस संन्यासी अपने पुत्र, पत्नी, बन्धु, शिखा, यज्ञोपवीत, स्वाध्याय आदि समस्त कर्मों का परित्याग कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के हित में शरीर की रक्षा के लिए मात्र कौपीन, दण्ड और आच्छादन (उपवस्त्र) धारण करता है; किन्तु यह भी परमहंस की मुख्य दीक्षा नहीं है। नारद ने पूछा—फिर मुख्य दीक्षा कौन सी है? ॥१॥

न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमाने च षड्भूर्मिर्वर्ज निन्दागर्वमत्सरदभदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमो-हहर्षासूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते यतस्तद्वपुरपध्वस्तं संशयविपरीत-मिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तस्त्रित्यबोधस्तस्वयमेवावस्थितिस्तं शान्तमचलमद्वया-नन्दचिद्घनं एवास्मि । तदेव मम परमधाम तदेव शिखा च तदेवोपवीतं च । परमात्मात्मनोर-कत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा संध्या ॥२॥

परमहंस की प्रमुख दीक्षा इस प्रकार है—वह दण्ड, शिखा, यज्ञोपवीत, आच्छादन धारण न करे। इसके अतिरिक्त शीत, उष्ण, मान-अपमान, सुख और दुःख इन षड्भूर्मियों से रहित हो। वह निन्दा, गर्व, मत्सर, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया, अहकार को त्यागकर अपनी काया को मृतक के समान देखता है। उसका संशय और मिथ्याभाव तिरोहित हो जाता है। वह नित्य बोध स्वरूप होता

है, जो संसार में किसी भी पदार्थ की अपेक्षा न रखता हुआ यह मानता है कि मैं एक मात्र अचल, अद्वयानन्द और चिद्घन ही हूँ। यही मेरा परमधाम है, शिखा और यज्ञोपवीत सभी कुछ यही है। वह आत्मा और परमात्मा में समान दृष्टि रखता है, उसके लिए दोनों का भेद नष्ट हो जाता है, यही उसकी सन्ध्या है॥ २॥

**सर्वान्कामान्यरित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः । ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ।  
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः । तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः । भिक्षामात्रेण  
यो जीवेत्स पापी यतिवृत्तिहा । स याति नरकान्योरान्महारौरवसंज्ञकान् । इदमन्तरं ज्ञात्वा स  
परमहंसः ॥ ३ ॥**

वह (परमहंस) समस्त कामनाओं का परित्याग करके अद्वैत परब्रह्म के स्वरूप में स्थित रहता है। ज्ञान का दण्ड धारण किये रहने के कारण उसे एकदण्डी स्वामी भी कहते हैं; किन्तु जो काष्ठ दण्ड धारण किये रहकर समस्त आशाओं से पूर्ण है, अज्ञानी है, तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, शम आदि गुणों से रहित है तथा भिक्षा मात्र से जीवनयापन करते हुए, जिसने यति वृत्ति का विनाश कर दिया है, वह पापी घोर रौरव नामक नरक में जाता है। जो इस अन्तर (पापी संन्यासी और परमहंस के अन्तर) को समझता है, वह परमहंस है॥ ३॥

**आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दा न स्तुतिर्यादृच्छिको  
भवेद्दिक्षुः । नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासनं च । न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथक्  
नापृथग्हं न न त्वं न सर्वं चानिकेतस्थिरमतिरेव स भिक्षुः सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेन्न लोकनं  
नावलोकनं च न च बाधकः क इति चेद्बाधकोऽस्त्येव । यस्माद्दिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत्स  
ब्रह्महा भवेद्यस्माद्दिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत्स पौल्कसो भवेद्यस्माद्दिक्षुर्हिरण्यं रसेन ग्राह्यं  
चेत्स आत्महा भवेत्स्माद्दिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च । सर्वे कामा  
मनोगता व्यावर्तन्ते । दुःखे नोद्विग्रः सुखे न स्पृहा त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्तेहो न  
द्वेष्टि न मोदं च । सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य आत्मन्येवावस्थीयते । तत्पूर्णानन्दैकबोधस्त-  
दब्रह्मैवाहमस्मीति कृतकृत्यो भवति कृतकृत्यो भवति ॥ ४ ॥**

वह दिगम्बर, नमस्कार, स्वाहाकार, स्वधाकार, निन्दा, स्तुति की ओर ध्यान न देकर स्वेच्छापूर्वक भिक्षु बनता है। उसका आवाहन, विसर्जन, मन्त्र, ध्यान, उपासना, लक्ष्य, अलक्ष्य कुछ भी नहीं होता। उसका पृथक्, अपृथक्, मेरे-तेरे का भाव और सर्वभाव भी नहीं होता। वह अनिकेत अर्थात् निवास रहित और स्थिर-मति वाला होता है। वह भिक्षु स्वर्ण आदि के संग्रह में प्रवृत्त नहीं होता। उसे कोई वस्तु आकर्षक और अनाकर्षक प्रतीत नहीं होती। उसके लिए क्या बाधक है? अर्थात् कुछ नहीं। भिक्षु परमहंस होकर यदि वह स्वर्ण (धन) से प्रेम करे, तो उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है। भिक्षु होकर यदि परमहंस स्वर्ण से लगाव रखता है, तो चाण्डाल की तरह होता है। स्वर्ण से प्रेम करने वाला भिक्षु आत्मघाती होता है। इसलिए भिक्षु (परमहंस) को चाहिए कि वह न तो स्वर्ण को देखे, न स्पर्श करे और न ग्रहण ही करे। ऐसा परमहंस आसकाम हो जाता है अर्थात् या तो उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं या समाप्त हो जाती हैं। वह दुःख से उद्विग्र नहीं होता और सुख से भी निस्पृह रहता है। राग को त्याग कर वह शुभ और अशुभ के प्रति स्तेहीन (आसक्ति रहित) हो जाता है, जो न द्वेष करता है, न मुदित होता है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। वह अपने आत्म-तत्त्व में ही स्थित रहता है। वह अपने को सदा पूर्णानन्द, पूर्ण बोध स्वरूप ब्रह्म ही समझता है। ऐसी मान्यता रखने (और अनुभव करने) से वह कृत-कृत्य हो जाता है॥ ४॥

**ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥**

**॥ इति परमहंसोपनिषत्समाप्ता ॥**

## ॥ पैङ्गलोपनिषद् ॥

यह शुक्ल यजुर्वेदीय उपनिषद् है। इसमें कुल चार अध्याय हैं, जिनमें ऋषि पैङ्गल और महर्षि याज्ञवल्क्य के प्रश्नोत्तर के माध्यम से परम कैवल्य का रहस्य वर्णित है।

प्रथम अध्याय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने सृष्टि के प्राकट्य का बड़ा ही वैज्ञानिक एवं स्पष्ट विवेचन किया है। द्वितीय अध्याय में 'ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना, पालन एवं संहार करने की सामर्थ्य से युक्त होने पर भी वह 'जीव भाव' को कैसे प्राप्त होता है? इसका वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में 'तत्त्वमसि' (वह तुम हो), त्वं तदसि (तुम वह हो), त्वं ब्रह्मासि (तुम ब्रह्म हो) तथा अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) इन चार महावाक्यों का विवेचन है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वेदान्त प्रसिद्ध चार महावाक्यों (अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रजानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म) से इनकी कुछ भिन्नता है। चतुर्थ अध्याय में 'ज्ञानियों की स्थिति एवं कर्म' पर प्रश्न पूछा गया है, जिसका उत्तर याज्ञवल्क्य जी ने बड़े विस्तार से दिया है, जिसका सारांश है कि 'ज्ञानी' अपने ज्ञानग्रिंह से समस्त प्रारब्ध कर्मों को जला डालता है और आवागमन के बन्धन से पूर्णतया मुक्त होकर परम कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। अन्त में उपनिषद् का माहात्म्य बताते हुए उसे पूर्ण कर दिया गया है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

### ॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ ह पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्य द्वादशार्वर्षशुश्रूषापूर्वकं परमरहस्यकैवल्यमनु-  
ब्रूहीति पप्रच्छ ॥ १ ॥

(एक बार) ऋषि पैङ्गल याज्ञवल्क्य ऋषि के पास गये और बारह वर्ष तक उनकी सेवा-शुश्रूषा करने के पश्चात् उनसे कहा कि मुझे परम रहस्य कैवल्य का उपदेश कीजिए ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । तत्त्वित्यमुक्तमविक्रियं सत्यज्ञानानन्दं  
परिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ॥ २ ॥

(यह सुनकर) ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा-पूर्व में केवल सत् ही था। वही नित्य, मुक्त, अविकारी, सत्य, ज्ञान और आनन्द से पूरित सनातन तथा एकमात्र अद्वैत ब्रह्म है ॥ २ ॥

तस्मिन्मरुशुक्तिकास्थाणुस्फटिकादौ जलरौप्यपुरुषेरेखादिवल्लोहितशुक्लकृष्ण-  
गुणमयी गुणसाम्यानिर्वच्या मूलप्रकृतिरासीत् । तत्प्रतिबिम्बितं यत्तत्साक्षिचैतन्यमासीत् ॥३॥

जिस प्रकार मरुस्थल में जल, सीप में रजत, स्थाणु में पुरुष और स्फटिक में रेखा का आभास होता है, उसी प्रकार उस (ब्रह्म) से रक्त (लाल), श्वेत और कृष्ण वर्ण (सत्, रज, तम रूपी) मूल प्रकृति उत्पन्न हुई, जिसमें तीनों गुण समानावस्था में विद्यमान थे। उसमें जो प्रतिबिम्बित हुआ, उसे ही साक्षी चैतन्य कहा गया ॥३॥

सा पुनर्विकृतिं प्राप्य सत्त्वोद्विक्ताऽव्यक्ताख्यावरणशक्तिरासीत् । तत्प्रतिबिम्बितं  
यत्तदीश्वरचैतन्यमासीत् । स स्वाधीनमायः सर्वज्ञः सृष्टिस्थितिलयानामादिकर्ता जगद्ङुररूपो  
भवति स्वस्मिन्विलीनं सकलं जगदाविर्भावयति । प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत् प्रसारितः  
प्राणिकर्मक्षयात् पुनस्तिरोभावयति । तस्मिन्वेवाखिलं विश्वं संकोचितपटवद्वर्तते ॥ ४ ॥

वह (मूल प्रकृति) जब पुनः विकार युक्त हो गई, तब सत्त्वगुण युक्त अव्यक्त आवरण शक्ति कहलाई। जो ईश्वर उसमें प्रतिबिम्बित हुआ, वह चैतन्य था। वह माया को अपने अधीन रखता है, जो सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्ता है और संसार का अङ्गुर स्वरूप है। वह अपने अन्दर विलीन सम्पूर्ण जगत् का आविर्भाव करने वाला है। वह प्राणियों के कर्मों के अनुसार इस विश्वरूपी पट को जिस प्रकार प्रसारित करता है, उसी प्रकार उनके कर्म क्षय हो जाने पर समेट भी लेता है। फिर समस्त विश्व उसी में संकुचित (समेटे हुए) पट(वस्त्र) के समान रहता है ॥ ४ ॥

**ईशाधिष्ठितावरणशक्तितो रजोद्रिक्ता महदाख्या विक्षेपशक्तिरासीत् । तत्प्रतिबिम्बितं यत्तद्विरण्यगर्भचैतन्यमासीत् । स महत्तत्त्वाभिमानी स्पष्टास्पष्टवपुर्भवति ॥ ५ ॥**

ईशाधिष्ठित आवरणशक्ति से रजोगुणयुक्त विक्षेपशक्ति प्रकट होती है, जिसे महत् कहते हैं। उसमें प्रति बिम्बित होने वाला हिरण्यगर्भ चैतन्य हुआ। वह महत्तत्वयुक्त कुछ स्पष्ट-कुछ अस्पष्ट शरीर वाला होता है ॥ ५ ॥

**हिरण्यगर्भाधिष्ठितविक्षेपशक्तिस्तमोद्रिक्ताहंकाराभिधा स्थूलशक्तिरासीत् । तत्प्रतिबिम्बितं यत्तद्विराट् चैतन्यमासीत् । स तदभिमानी स्पष्टवपुः सर्वस्थूलपालको विष्णुः प्रधानपुरुषो भवति । तस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्वयःपृथिवी । तानि पञ्च तन्मात्राणि त्रिगुणानि भवन्ति ॥ ६ ॥**

हिरण्यगर्भ में निवास करने वाली विक्षेप शक्ति से, तमोगुणवाली अहंकार नामक स्थूल शक्ति आविर्भूत हुई। जो उसमें प्रतिबिम्बित हुआ, वह विराट् चैतन्य था। उसका अभिमानी स्पष्ट शरीर वाला, समस्त स्थूल जगत् का पालक प्रधान पुरुष विष्णु होता है। उसकी आत्मा से आकाश तत्त्व की उत्पत्ति हुई। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी तत्त्व का आविर्भाव हुआ। उन्हीं से पञ्च तन्मात्राएँ और तीन गुण उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥

**स्त्रेष्ठकामो जगद्योनिस्तमोगुणमधिष्ठाय सूक्ष्मतन्मात्राणि भूतानि स्थूलीकर्तुं सोऽकामयत । सृष्टेः परिमितानि भूतान्येकमेकं द्विधा विधाय पुनश्तुर्धा कृत्वा स्वस्वेतरद्वितीयांशैः पञ्च पञ्चधा संयोज्य पञ्चीकृतभूतैरनन्तकोटिब्रह्माण्डानि तत्तदण्डोचितचतुर्दर्शभुवनानि तत्तद्वुवनोचितगोलकस्थूलशरीराण्यसृजत् ॥ ७ ॥**

जब उस जगत् रचयिता को सृष्टि के निर्माण की इच्छा हुई, तब उसने तमोगुण में अधिष्ठित होकर सूक्ष्म तन्मात्राओं को स्थूल पञ्चतत्त्वों में प्रतिष्ठित करने की कामना की। उन रचित भूतों में से एक-एक के दो भाग किए, फिर उनमें से प्रत्येक के चार-चार भाग किए। इसके पश्चात् प्रत्येक भूत के अर्धांश में अन्य भूतों के अष्टमांश को मिलाकर सबका पंचीकरण किया; तत्पश्चात् इन पञ्चीकृत भूतों से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि की, फिर उनके योग्य चतुर्दर्श भुवन रचे तथा उन भुवनों के उपयुक्त स्थूल शरीरों का सृजन किया ॥ ७ ॥

**स पञ्चभूतानां रजोंशांश्तुर्धा कृत्वा भागत्रयात्पञ्चवृत्त्यात्मकं प्राणमसृजत् । स तेषां तुर्यभागेन कर्मेन्द्रियाण्यसृजत् ॥ ८ ॥**

इसके पश्चात् पञ्चभूतों के रजोगुणयुक्त अंश के चार भाग करके तीन भागों से पाँच प्रकार के प्राणों का सृजन किया और चतुर्थांश से कर्मेन्द्रियों का निर्माण किया ॥ ८ ॥

**स तेषां सत्त्वांशं चतुर्धा कृत्वा भागत्रयसमष्टिः पञ्चक्रियावृत्त्यात्मकमन्तःकरणमसृजत् । स तेषां सत्त्वतुरीयभागेन ज्ञानेन्द्रियाण्यसृजत् ॥ ९ ॥**

इसी प्रकार उसके (पञ्चभूतों के) सतोगुण युक्त अंश को चार हिस्सों में विभाजित करके उसके तीन भागों से पंचवृत्त्यात्मक अन्तःकरण और चौथे भाग से ज्ञानेन्द्रियों का सूजन किया ॥ १ ॥

[ अन्तःकरण को योगशास्त्र ने भी पाँच वृत्तियों वाला कहा है। वे हैं— प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति (योग १.१.६)। यथार्थज्ञान (प्रमा) के साधन (करण) को प्रमाण कहते हैं, अर्थात् जिस वृत्ति से प्रमा (यथार्थ बोध) उत्पन्न होता है, उसका नाम प्रमाण है। सीप में चाँदी और रस्सी में सर्प की तरह मिथ्याज्ञान (जैसा न हो, वैसा ज्ञान) 'विपर्यय' कहलाता है। यथार्थ न होते हुए भी केवल शब्द सुनने मात्र से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'विकल्प' कहा जाता है। यह ज्ञान मिथ्या भी नहीं होता। भेद में अभेद और अभेद में भेद का ज्ञान जैसे राहु का सिर, काठ की पुतली में राहु और सिर तथा काठ और पुतली में कोई भेद नहीं है, फिर भी भेद जैसा प्रतीत हो रहा है—यही विकल्प वृत्ति है। अन्धकार में वस्तुओं के छिप जाने की तरह जिस वृत्ति से जाग्रत् और स्वप्नावस्था की वृत्तियों का अभाव हो जाता है, उसे निद्रावृत्ति कहते हैं। अनुभवजन्य ज्ञान, जो कालान्तर में प्रबुद्ध हो जाता है, 'स्मृति' कहलाता है। ]

सत्त्वसमष्टिं इन्द्रियपालकानसृजत् । तानि सृष्टान्यण्डे प्राचिक्षिपत् । तदाज्ञया समष्ट्यण्डं  
व्याप्य तान्यतिष्ठन् । तदाज्ञयाऽहंकारसमन्वितो विराट् स्थूलान्यरक्षत् । हिरण्यगर्भस्तदाज्ञया  
सूक्ष्माण्यपालयत् ॥ १० ॥

सत्त्व समष्टि से उसने पाँचों इन्द्रियों के पालक देवताओं का सूजन किया और उन्हें ब्रह्माण्डों में स्थापित कर दिया। उसकी (विष्णु रूप ब्रह्म की) आज्ञा से वे सभी (देवगण) ब्रह्माण्डों में स्थित होकर निवास करने लगे। उस (ब्रह्म) की आज्ञा से अहंकार समन्वित विराट्, स्थूल जगत् का संरक्षण करने लगा। हिरण्यगर्भ उसकी आज्ञा से सूक्ष्म तत्त्व का पालन करने लगा ॥ १० ॥

अण्डस्थानि तानि तेन विना स्पन्दितुं चेष्टितुं वा न शेकुः । तानि चेतनीकर्तुं सोऽकामयत  
ब्रह्माण्डब्रह्मरन्धाणि समस्तव्यष्टिमस्तकान्विदार्य तदेवानुप्राविशत् । तदा जडान्यपि तानि  
चेतनवत्स्वकर्माणि चक्रिरे ॥ ११ ॥

ब्रह्माण्ड में स्थित वे देवगण उस (ब्रह्म) के बिना न तो स्पन्दन कर सके और न ही कोई चेष्टा कर सके। तब उस (ब्रह्म) ने उन्हें चेतन्य करने की इच्छा की। वह ब्रह्माण्ड, ब्रह्मरन्ध और समस्त व्यष्टि के मस्तक को विदीर्ण करके उसी में प्रवेश कर गया, तब वे जड़ता सम्पत्र होते हुए भी चेतन की तरह अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त हो गये ॥ ११ ॥

सर्वज्ञेशो मायालेशसमन्वितो व्यष्टिदेहं प्रविश्य तया मोहितो जीवत्वमगमत् । शरीरत्रयता-  
दात्प्यात्कर्तृत्वभोक्तृत्वतामगमत् । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणर्थर्मयुक्तो घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो  
मृत इव कुलालचक्रन्यायेन परिभ्रमतीति ॥ १२ ॥

सर्वज्ञ ईश्वर मायायुक्त होकर व्यष्टि रूप शरीर में प्रविष्ट हो गया और मोह के कारण जीवत्व (जीव भाव) को प्राप्त हो गया। तीन प्रकार के (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीरों से तादात्प्य स्थापित करके कर्तापन और भोक्तापन का अनुभव करने लगा। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि स्थितियों वाला होकर मरण धर्म को प्राप्त करके घटीयन्त्र (रहट) के समान उद्विग्न (चंचल) होकर तथा कुम्भकार के चक्र के समान उत्पन्न और मृत होता हुआ जगत् में परिभ्रमण करने लगा ॥ १२ ॥

## ॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुवाच सर्वलोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकृद्धिभुरीशः कथं जीवत्व-  
मगमदिति ॥ १ ॥

पैङ्गल ऋषि ने पुनः याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि समस्त लोकों की सृष्टि, उनका पालन और  
अन्त करने वाला विभु ईश्वर किस तरह जीवभाव को प्राप्त होता है ? ॥ १ ॥

**स होवाच याज्ञवल्क्यः स्थूलसूक्ष्मकारणदेहोद्भवपूर्वकं जीवेश्वरस्वरूपं विविच्य**  
कथयामीति सावधानेनैकाग्रतया श्रूयताम् । ईशः पञ्चीकृतमहाभूतलेशानादाय व्यष्टिसम-  
ष्ट्यात्मकस्थूलशरीराणि यथाक्रममकरोत् । कपालचर्मान्त्रास्थिमांसनखानि पृथिव्यंशाः ।  
रक्तमूत्रलालास्वेदादिका अबंशाः । क्षुत्तृष्णोष्णमोहमैथुनाद्या अग्न्यंशाः । प्रचारणोत्तारणा-  
श्वासादिका वाय्वंशाः । कामक्रोधादयो व्योमांशाः । एतत्संघातं कर्मणि संचितं त्वगादियुक्तं  
बाल्याद्यवस्थाभिमानास्पदं बहुदोषाश्रयं स्थूलशरीरं भवति ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के उद्भवपूर्वक जीव और ईश्वर के  
स्वरूप की विवेचना करता हूँ, उसे सावधान और एकाग्रचित्त होकर सुनो । ईश्वर ने पंचीकृत महाभूतों के अंशों  
को लेकर व्यष्टि और समष्टि के स्थूल शरीरों का क्रमशः सृजन किया है । कपाल, चर्म, आँतें, अस्थि, मांस  
और भख (नाखून) ये पृथिवी तत्त्व के अंश से निर्मित हैं । रक्त, मूत्र, लाल (लार) और पसीना आदि जल  
तत्त्व के अंश से बने हैं । क्षुधा, तृष्णा (प्यास), उष्णता (गर्मी), मोह, मैथुन आदि अग्नि तत्त्व के अंश से बने  
हैं । चलना, उठना, बैठना, श्वास आदि वायु तत्त्व के अंश से हैं । काम, क्रोध आदि आकाश तत्त्व के अंश से  
हैं । इस प्रकार इन सबके संघात (समुच्चय) स्वरूप एवं संचित कर्मों से निर्मित त्वचा आदि से युक्त  
बाल्यावस्था आदि के भाव वाला अनेक दोषों का आश्रय रूप यह स्थूल शरीर होता है ॥ २ ॥

**अथापञ्चीकृतमहाभूतरजोंशभागत्रयसमष्टिः प्राणमसृजत् । प्राणापानव्यानोदान-**  
**समानाः प्राणवृत्तयः । नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजया उपप्राणाः । हृदासननाभिकण्ठसर्वाङ्गानि**  
**स्थानानि । आकाशादिरजोगुणतुरीयभागेन कर्मेन्द्रियमसृजत् । वाक्पाणिपादपायूप-**  
**स्थास्तद्वृत्तयः । वचनादानगमनविसर्गानन्दास्तद्विषयाः । एवं भूतसत्त्वांशभागत्रयसमष्टि-**  
**तोऽन्तःकरणमसृजत् । अन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकारास्तद्वृत्तयः । संकल्पनिश्चयस्म-**  
**रणाभिमानानुसंधानास्तद्विषयाः । गलवदननाभिहृदयभूमध्यं स्थानम् । भूतसत्त्वतुरीयभागेन**  
**ज्ञानेन्द्रियमसृजत् । श्रोत्रत्वक्रक्षुर्जिह्वाग्राणास्तद्वृत्तयः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तद्विषयाः ।**  
**दिग्वाताक्प्रचेतोऽश्विवहीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः । चन्द्रो विष्णुश्चतुर्वक्त्रः शंभुश्च करणाधिपाः ॥ ३ ॥**

इसके पश्चात् अपञ्चीकृत महाभूतों के रजोगुण युक्त अंश के तीन भागों को समन्वित करके प्राण का  
सृजन किया गया । प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच प्राण हैं । इसी प्रकार नाग, कूर्म, कृकर,  
देवदत्त और धनंजय ये पाँच उपप्राण हैं । हृदय, आसन (मूलाधार), नाभि, कण्ठ और सर्वाङ्ग उस (प्राण) के  
स्थान हैं । आकाश आदि पञ्चमहाभूतों के रजोगुणयुक्त अंश के चतुर्थ भाग से कर्मेन्द्रियों का सृजन किया गया ।  
वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थि (शिश्र) इसके प्रकार हैं । वचन, आदान, गमन, विसर्जन और आनन्द ये इन  
(कर्मेन्द्रियों) के विषय हैं । इस प्रकार पञ्चमहाभूतों के सत्त्व अंश के तीन भागों से अन्तःकरण का सृजन

किया। अन्तःकरण में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और उनकी वृत्तियाँ समाहित हैं। संकल्प, निश्चय, स्मरण, अभिमान तथा अनुसन्धान क्रमशः इनके विषय हैं। गला, मुख, नाभि, हृदय और भौंहों के मध्य का भाग इनके स्थान हैं। महाभूतों के सत्त्व अंश के चतुर्थ भाग से ज्ञानेन्द्रियों का सृजन किया गया। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिहा और ग्राण ये इनके (ज्ञानेन्द्रियों के) प्रकार हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनके विषय हैं। दिशाएँ, वायु, अर्क (सूर्य), वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु के देवता यम, चन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा और शिव ये सभी देवगण इन इन्द्रियों के स्वामी हैं॥३॥

**अथान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाः पञ्च कोशाः। अन्नरसेनैव भूत्वाऽन्नरसेनाभिवृद्धिं प्राप्यान्नरसमयपृथिव्यां यद्विलीयते सोऽन्नमयकोशाः। तदेव स्थूलशरीरम्। कर्मेन्द्रियैः सह प्राणादिपञ्चकं प्राणमयकोशाः। ज्ञानेन्द्रियैः सह मनो मनोमयकोशाः। ज्ञानेन्द्रियैः सह बुद्धिर्विज्ञानमयकोशाः। एतत्कोशत्रयं लिङ्गशरीरम्। स्वरूपाज्ञानमानन्दमयकोशाः। तत् कारणशरीरम्॥४॥**

इसके बाद अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये पंचकोश हैं। अन्नमय कोश वह है, जो अन्न से उत्पन्न होता है, उसी से प्रवृद्ध होता है और अन्तः अन्न-रसमय पृथिवी में ही विलीन हो जाता है। यही स्थूल शरीर है। कर्मेन्द्रियों के साथ पंचप्राणों का समुच्चय प्राणमय कोश कहलाता है। ज्ञानेन्द्रियों सहित मन मनोमय कोश कहलाता है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि का योग विज्ञानमय कोश कहलाता है। इन (प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय) तीनों कोशों का समुच्चय ही लिङ्ग शरीर है। जिसमें अपने स्वरूप का भान नहीं रहता है, वह आनन्दमय कोश है। इसे ही कारण शरीर कहते हैं॥४॥

**अथ ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं वियदादिपञ्चकं मन्तःकरण-चतुष्टयं कामकर्मतमांस्यष्टपुरम्॥५॥**

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, कर्मेन्द्रिय पञ्चक, प्राणादि पञ्चक, वियदादिपञ्चक (पाँच महाभूत), अन्तःकरण चतुष्टय, काम, कर्म और अविद्या ये पुर्यष्टक (आठ पुरियों का समूह) कहलाता है॥५॥

**ईशाज्ञया विराजो व्यष्टिदेहं प्रविश्य बुद्धिमधिष्ठाय विश्वत्वमगमत्। विज्ञानात्मा चिदाभासो विश्वो व्यावहारिको जाग्रत्स्थूलदेहाभिमानी कर्मभूरिति च विश्वस्य नाम भवति॥६॥**

ईश्वर की आज्ञा से विराट् ने व्यष्टि में प्रविष्ट होकर तथा बुद्धि में प्रतिष्ठित होकर विश्वत्व को प्राप्त किया अर्थात् विश्व की संज्ञा प्राप्त की। विज्ञानात्मा, चिदाभास, विश्व, व्यावहारिक, जाग्रत्, स्थूल देहाभिमानी और कर्मभू ये विश्व के विभिन्न नाम हैं॥६॥

**ईशाज्ञया सूत्रात्मा व्यष्टिसूक्ष्मशरीरं प्रविश्य मन अधिष्ठाय तैजसत्वमगमत्। तैजसः प्रातिभासिकः स्वप्नकल्पित इति तैजसस्य नाम भवति॥७॥**

ईश्वर के आदेश से सूत्रात्मा, व्यष्टि के सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट होकर मन में अधिष्ठित होकर तैजसत्व को प्राप्त हुआ। तैजस, प्रातिभासिक और स्वप्नकल्पित ये तैजस के नाम हैं॥७॥

**ईशाज्ञया मायोपाधिरव्यक्तसमन्वितो व्यष्टिकारणशरीरं प्रविश्य प्राज्ञत्वमगमत्। प्राज्ञोऽविच्छिन्नः पारमार्थिकः सुषुप्त्यभिमानीति प्राज्ञस्य नाम भवति॥८॥**

ईश्वर की आज्ञा से माया की उपाधि से युक्त अव्यक्त, व्यष्टि के कारण शरीर में प्रविष्ट होकर प्राज्ञत्व को प्राप्त हुआ। प्राज्ञ, अविच्छिन्न, पारमार्थिक और सुषुप्ति-अभिमानी ये प्राज्ञ के नाम हैं॥८॥

अव्यक्तलेशाज्ञानाच्छादितपारमार्थिकजीवस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यानि ब्रह्मणैकतां  
जगुर्नेतरयोव्यावहारिकप्रातिभासिकयोः ॥ ९ ॥

पारमार्थिक जीव के ऊपर अव्यक्त का अंश रूप अज्ञान आच्छादित है। वह भी ब्रह्म का ही अंश है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से ब्रह्म की एकता प्रकट होती है, परन्तु व्यावहारिक और प्रातिभासिक अंश ब्रह्म से इस प्रकार की एकता नहीं रखते ॥ ९ ॥

**अन्तःकरणप्रतिबिम्बितचैतन्यं यत्तदेवावस्थात्रयभागभवति । स जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्य-वस्थाः प्राप्य घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव स्थितो भवति ॥ १० ॥**

अन्तःकरण में जो चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, वही अवस्थात्रय (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) का भागी होता है। चैतन्य तत्त्व ही उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होकर घटीयन्त्र के समान उद्विग्न (चंचल) होता है, जो निरन्तर जन्म-मरण को प्राप्त होता रहता है ॥ १० ॥

**अथ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छीमरणाद्यवस्थाः पञ्च भवन्ति । तत्तदेवताग्रहान्वितैः श्रोत्रादि-ज्ञानेन्द्रियैः शब्दाद्यर्थविषयग्रहणज्ञानं जाग्रदवस्था भवति । तत्र भ्रूमध्यं गतो जीव आपादमस्तकं व्याप्य कृषिश्रवणाद्यखिलक्रियाकर्ता भवति । तत्तत्फलभुक् च भवति । लोकान्तरगतः कर्मार्जितफलं स एव भुड़ते । स सार्वभौमवद्व्यवहाराच्छान्तं अन्तर्भवनं प्रवेष्टुं मार्गमाश्रित्य तिष्ठति ॥**

इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं। जाग्रत् अवस्था उसे कहते हैं, जिसमें श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों अपने-अपने देवता के अनुग्रह (शक्ति) से युक्त होकर शब्दादि विषयों को ग्रहण करती हैं। इस अवस्था में जीव भ्रूमध्य में निवास करते हुए पैरों से लेकर मस्तक पर्यन्त व्याप्त रहता है और कृषि से श्रवण तक (अर्थात् अपनी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के) समस्त कार्यों को सम्पादित करता हुआ उनके फल भी प्राप्त करता है। वह अपने इन अर्जित कर्मों का फल लोकान्तर (परलोक) में भी भोगता है। वह सार्वभौम के समान लौकिक कार्यों से थककर विश्रान्ति पाने हेतु अन्दर के विश्राम स्थल में जाने की इच्छा से मार्ग में ही आश्रय लेकर उत्तरता है ॥ ११ ॥

**करणोपरमे जाग्रत्संस्कारार्थप्रबोधवद्ग्राह्यग्राहकरूपस्फुरणं स्वप्नावस्था भवति । तत्र विश्व एव जाग्रदव्यवहारलोपान्नाडीमध्यं चरंस्तैजसत्वमवाप्य वासनारूपकं जगद्वैचित्र्यं स्वभासा भासयन्यथेष्यितं स्वयं भुड़ते ॥ १२ ॥**

इन्द्रियों के अपने कार्यों से उपराम हो जाने पर, जाग्रत् अवस्था के संस्कारों से ग्राह्य-ग्राहक रूप जो अर्थ प्रबोधवत् स्फुरण होती है, उसे स्वप्नावस्था कहते हैं। उस अवस्था में विश्व (स्थूल शरीर भी व्यष्टि-चेतना शक्ति) जाग्रत् अवस्था के व्यवहार के लोप हो जाने से नाड़ी के बीच में संचरित होता हुआ तैजसत्व को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् अपनी वासना के अनुरूप अपने ही भासा (तेज) के द्वारा एक विचित्र जगत् की सृष्टि करता है और स्वयं ही अपनी इच्छानुसार उसका भोग करता है ॥ १२ ॥

**चित्तैककरणा सुषुप्त्यवस्था भवति । भ्रमविश्रान्तशकुनिः पक्षौ संहत्य नीडाभिमुखं यथा गच्छति तथा जीवोऽपि जाग्रत्स्वप्नपञ्चे व्यवहृत्य श्रान्तोऽज्ञानं प्रविश्य स्वानन्दं भुड़ते ॥**

चित्त की एकीकरण (एकाग्रता से युक्त) अवस्था ही सुषुप्ति अवस्था होती है। जिस प्रकार भ्रमण से थककर पक्षी पंखों को समेट कर अपने नीड़ (घोंसले) की ओर गमन करता है, उसी प्रकार जीव भी जाग्रत् और स्वप्नावस्था के प्रपञ्चों से थक जाने पर अज्ञान में प्रविष्ट होकर आनन्द भोगता है ॥ १३ ॥

अकस्मान्मुद्गरदण्डाद्यैस्ताडितवद्याज्ञानाभ्यामिन्द्रियसंघातैः कम्पन्निव मृततुल्या मूर्च्छा भवति ॥ १४ ॥

अकस्मात् मुद्गर और दण्ड आदि के द्वारा ताड़ित किये जाने पर जिस प्रकार व्यक्ति कम्पित होता है, उसी प्रकार मूर्च्छा की स्थिति में भी भय और अज्ञान के कारण समस्त इन्द्रियाँ कम्पित होती हैं। यह अवस्था (मूर्च्छा) मृत तुल्य होती है ॥ १४ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छावस्थानामन्याब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं सर्वजीवभयप्रदा स्थूलदेहविस-  
र्जनी मरणावस्था भवति ॥ १५ ॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और मूर्च्छा अवस्थाओं से भिन्न एक अवस्था है, जो ब्रह्म (अत्यधिक महान्) से लेकर तिनका (अत्यधिक तुच्छ) पर्यन्त सभी जीवों के लिए भयप्रदा है, जिसके प्राप्त होने पर स्थूल शरीर का परित्याग करना पड़ता है, वह मरणावस्था होती है ॥ १५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तत्तद्विषयान्प्राणान्संहत्य कामकर्मान्वित अविद्याभूतवे-  
ष्टितो जीवो देहान्तरं प्राप्य लोकान्तरं गच्छति । प्राक्कर्मफलपाकेनावर्तान्तरकीटवद्विश्रान्ति  
नैव गच्छति ॥ १६ ॥

उस समय (मृत्यु हो जाने पर) कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, उनके विषय (तन्मात्राओं), प्राणों को एकत्र करके काम और कर्म से समन्वित हुआ जीव अविद्या से आवेष्टित होकर अन्य शरीर को प्राप्त करके दूसरे लोक (परलोक) में गमन करता है। पूर्वकृत कर्मों के फलभोग में फँसे रहने के कारण वह (जीव), उसी प्रकार शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता, जिस प्रकार भैंवर में फँसा हुआ कीट ॥ १६ ॥

सत्कर्मपरिपाकतो बहूनां जन्मनामन्ते नृणां मोक्षेच्छा जायते । तदा सद्गुरुमाश्रित्य चिर-  
कालसेवया बन्धं मोक्षं कश्चित्प्रयाति ॥ १७ ॥

सत्कर्मों के परिपक्व हो जाने पर जब अनेक जन्मों के पश्चात् मनुष्य की मोक्ष प्राप्त करने की (बलवती) इच्छा उत्पन्न होती है, तब वह किसी सद्गुरु का अवलम्बन लेकर, लम्बे समय तक उनकी सेवा करके (ज्ञान प्राप्ति के पश्चात्) बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

अविचारकृतो बन्धो विचारान्मोक्षो भवति । तस्मात्सदा विचारयेत् । अध्यारोपाप वादतः  
स्वरूपं निश्चयीकर्तुं शक्यते । तस्मात्सदा विचारयेजगज्जीवपरमात्मनो जीवभावजगद्वावबाधे  
प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैवावशिष्यत इति ॥ १८ ॥

अविचार करने से बन्धन और विचार (सद्विचार) करने से मोक्ष होता है। इसलिए सदैव विचार (सद्विचार) करना चाहिए। अध्यारोप और अपवाद से स्वरूप का निश्चय किया जा सकता है। इसलिए सदा जगत्, जीव और परमात्मा के विषय में ही विचार (चिन्तन) करना चाहिए। जीव भाव और जगद्वाव का निराकरण करने से अपने प्रत्यगात्मा (जीव) से अभिन्न केवल ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है ॥ १८ ॥

## ॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ हैनं पैङ्गलः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं महावाक्यविवरणमनुब्रूहीति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् पैङ्गल ऋषि ने याज्ञवल्क्य से कहा- 'मुझे महावाक्यों का विवरण समझाइये' ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यस्तत्त्वमसि त्वं तदसि त्वं ब्रह्मास्यहं ब्रह्मास्मीत्यनुसंधानं कुर्यात् ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य बोले- 'वह तुम हो' (तत्त्वमसि), 'तुम वह हो' (त्वं तदसि), 'तुम ब्रह्म हो' (त्वं ब्रह्मासि), 'मैं ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि), ये महावाक्य हैं, जिन पर अनुसंधान (विचार) करना चाहिए ॥ २ ॥

तत्र पारोक्ष्यशबलः सर्वज्ञत्वादिलक्षणो मायोपाधिः सच्चिदानन्दलक्षणो जगद्योनिस्तत्पदवाच्यो भवति । स एवान्तःकरणसंभिन्नबोधोऽस्मत्प्रत्ययावलम्बनस्त्वंपदवाच्यो भवति । परजीवोपाधिमायाविद्ये विहाय तत्त्वंपदलक्ष्यं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म ॥ ३ ॥

'तत्त्वमसि' में 'तत्' पद सर्वज्ञत्व आदि लक्षण से युक्त, माया की उपाधि से युक्त, सच्चिदानन्द रूप, जगत् योनि (मूलकारण) रूप अव्यक्त ईश्वर का बोधक है । वही ईश्वर अन्तःकरण की उपाधि के कारण भिन्नता का बोध होने से 'त्वं' पद का आलम्बन लेकर प्रकट किया जाता है । ईश्वर की उपाधि माया और जीव की उपाधि अविद्या है, इनका परित्याग कर देने से 'तत्' और 'त्वं' पदों का लक्ष्य (आशय) उस ब्रह्म से है, जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न है ॥ ३ ॥

तत्त्वमसीत्यहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थविचारः श्रवणं भवति । एकान्तेन श्रवणार्थानुसंधानं मननं भवति । श्रवणमनननिर्विचिकित्स्येऽर्थं वस्तुन्येकतानवत्तया चेतःस्थापनं निदिध्यासनं भवति । ध्यातृध्याने विहाय निवातस्थितदीपवद्धयेयैकगोचरं चित्तं समाधिर्भवति ॥ ४ ॥

'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' इन महावाक्यों के अर्थ पर विचार करना श्रवण कहलाता है । श्रवण किए हुए विषय के अर्थों का एकान्त में अनुसन्धान करना मनन कहलाता है । श्रवण और मनन द्वारा निर्णीत अर्थ रूप वस्तु में एकाग्रतापूर्वक चित्त का स्थापन निदिध्यासन कहलाता है । जब ध्याता और ध्यान के भाव को छोड़कर चित्तवृत्ति वायु रहित स्थान में रखे दीपक की ज्योति के सदृश केवल ध्येय में स्थिर हो जाती है, तब उस अवस्था को समाधि कहते हैं ॥ ४ ॥

तदानीमात्मगोचरा वृत्तयः समुत्थिता अज्ञाता भवन्ति । ताः स्मरणादनुभीयन्ते । इहानादिसंसारे संचिताः कर्मकोटयोऽनेनैव विलयं यान्ति । ततोऽभ्यासपाटवात्सहस्रशः सदाऽमृतधारा वर्षन्ति । ततो योगवित्तमाः समाधिं धर्ममेघं प्राहुः । वासनाजाले निःशेषममुना प्रविलापिते कर्मसंचये पुण्यपापे समूलोन्मूलिते प्राक्परोक्षमपि करतलामलकवद्वाक्यमप्रतिबद्धापरोक्षसाक्षात्कारं प्रसूयते । तदा जीवन्मुक्तो भवति ॥ ५ ॥

उसमें (उस अवस्था में) आत्मगोचर वृत्तियाँ उत्पन्न होकर अज्ञात हो जाती हैं, जो स्मरण के द्वारा अनुमानित होती हैं (अर्थात् जिनका स्मरण के द्वारा अनुमान लगाया जाता है) । संसार में अनादिकाल से संचित करोड़ों कर्म इस अवस्था में ही विनष्ट हो जाते हैं । इसके पश्चात् अभ्यास पटुता (परिपक्ता) प्राप्त हो जाने पर सतत सहस्रों अमृत धाराओं की वर्षा होती रहती है । इसीलिए योगज्ञाता समाधि को धर्ममेघ कहते हैं । इसके माध्यम से सम्पूर्ण वासनाजाल निःशेष (समाप्त) हो जाता है तथा पाप और पुण्य दोनों प्रकार के संचित कर्म समूल विनष्ट हो जाते हैं । यह स्थिति प्राप्त होने पर, प्राक् (पहले) जो, 'तत्त्वमसि' महावाक्य का आशय

परोक्ष रूप से विदित होता था, वही अब हस्तामलकवत् अवरोध रहित स्पष्ट विदित होने लगता है और ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है, तब योगी जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

**ईशः** पञ्चीकृतभूतानामपञ्चीकरणं कर्तुं सोऽकामयत । ब्रह्माण्डतदत्तलोकान्कार्य-रूपांश्च कारणत्वं प्रापयित्वा ततः सूक्ष्माङ्गं कर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्च ज्ञानेन्द्रियाण्यन्तःकरण-चतुष्टयं चैकीकृत्य सर्वाणि भौतिकानि कारणे भूतपञ्चके संयोज्य भूमि जले जलं वह्नौ वह्निं वायौ वायुमाकाशे चाकाशमहंकारे चाहंकारं महति महदव्यक्तेऽव्यक्तं पुरुषे क्रमेण विलीयते । विराह्मिरण्यगर्भेश्वरा उपाधिविलयात्परमात्मनि लीयन्ते ॥ ६ ॥

ईश्वर ने पञ्चीकृत भूतों का पुनः अपञ्चीकरण करने की कामना की । अतः उसने ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत लोकों को कार्य रूप से पुनः कारण रूप प्राप्त करा दिया । इसके बाद उसने सूक्ष्म अङ्ग, कर्मेन्द्रियों, प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों और अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) को एकीकृत करके समस्त भौतिक पदार्थों को उनके कारणभूत पंचक में संयोजित करके भूमि को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को अहंकार में, अहंकार को महत् (विराट्) में, विराट् को अव्यक्त में और अव्यक्त को पुरुष में क्रमशः विलीन कर दिया । इस प्रकार विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर भी उपाधियों के विलीन हो जाने पर परमात्मा में ही विलीन हो जाते हैं ॥ ६ ॥

**पञ्चीकृतमहाभूतसंभवकर्मसंचितस्थूलदेहः कर्मक्षयात्सत्कर्मपरिपाकतोऽपञ्चीकरणं प्राप्य सूक्ष्मेणैकीभूत्वा कारणरूपत्वमासाद्य तत्कारणं कूटस्थे प्रत्यगात्मनि विलीयते । विश्वतैजसप्राज्ञाः स्वस्वोपाधिलयात्प्रत्यगात्मनि लीयन्ते ॥ ७ ॥**

पञ्चीकृत महाभूतों द्वारा निर्मित और संचित कर्मों से प्राप्त स्थूल देह, कर्मों के क्षय हो जाने तथा सत्कर्मों के परिपाक होने से अपञ्चीकृत हो जाती है । वह देह, सूक्ष्मरूप से एकीभूत होकर, कारण रूप को प्राप्त होकर अन्त में उस कारण के भी कारण कूटस्थ प्रत्यगात्मा में विलीन हो जाती है । फिर विश्व, तैजस और प्राज्ञ की भी अपनी-अपनी उपाधियों के लय हो जाने से ये सभी प्रत्यगात्मा में विलीन हो जाते हैं ॥ ७ ॥

**अण्डं ज्ञानाग्निना दग्धं कारणैः सह परमात्मनि लीनं भवति । ततो ब्राह्मणः समाहितो भूत्वा तत्त्वं पदैक्यमेव सदा कुर्यात् । ततो मेघापायेऽशुमानिवात्मा ऽविर्भवति ॥ ८ ॥**

अण्ड (ब्रह्माण्ड) अपनी कारण सत्ता के स्थान ज्ञानाग्नि में भस्म होकर परमात्मा में विलीन हो जाता है । इस प्रकार ब्राह्मण (ब्रह्म में रत) पुरुष को समाहित चित्त (ब्रह्म में चित्त को समाहित करके) होकर सदैव 'तत्' और 'त्वं' पदों के साथ ऐक्य करते रहना चाहिए । इस प्रक्रिया से उसी प्रकार आत्म साक्षात्कार होने लगता है, जिस प्रकार मेघों के छँट जाने से अंशुमान् (सूर्य) का प्रकाश प्रकट हो जाता है ॥ ८ ॥

**ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत् । अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिं रूपकम् ॥ ९ ॥**  
प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम् । ध्यायन्नास्ते मुनिश्वेष चासुसेरामृतेस्तु यः ॥ १० ॥  
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान् । जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।  
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ ११ ॥

कलश के अन्दर स्थित दीपक के सदृश, शरीर में स्थित (हृदय कमल के मध्यस्थित) धूम रहित ज्योति स्वरूप अङ्गुष्ठ परिमाण आत्मा का ध्यान करके जो मुनि अन्तःप्रान्त में स्थित प्रकाशयुक्त कूटस्थ, अव्यय आत्मा का ध्यान नित्य सोते समय तथा मृत्यु के समय भी करता है, वह जीवन्मुक्त है, धन्य है,

कृतकृत्य है, ऐसा मानना चाहिए। जीवन्मुक्तत्व (जीवन्मुक्ति स्थिति) को छोड़कर वह इस शरीर का परित्याग करके अदेह और मुक्ति को उसी प्रकार प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार पवन स्पन्दन रहित हो जाता है अर्थात् पवन का प्रवाह बन्द हो जाता है ॥ ११ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस और अगन्धवत् होकर अव्यय, अनादि, अनन्त, महत् से भी परे, ध्रुव, निर्मल तथा निरामय ब्रह्म ही शेष बचता है ॥ १२ ॥

## ॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ हैनं पैङ्गलः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं ज्ञानिनः किं कर्म का च स्थितिरिति ॥ १ ॥

इसके बाद पैङ्गल ऋषि ने याज्ञवल्क्य ऋषि से पुनः प्रश्न किया कि ज्ञानियों के कर्म कौन से हैं और उनकी स्थिति कैसी होती है? ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः । अमानित्वादिसंपन्नो मुमुक्षुरेकविंशतिकुलं तारयति । ब्रह्मविन्मात्रेण कुलमेकोत्तरशतं तारयति ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि जो मुमुक्षु अमानित्व आदि गुणों से सम्पन्न होता है, वह अपनी इक्कीस पीढ़ियों को तार देता है और ब्रह्मविद् हो जाने मात्र से वह अपने कुल की एक सौ एक पीढ़ियाँ तार देता है ॥ २ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

अपनी आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि तथा मन को ही लगाम जानना चाहिए ॥ ३ ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । जङ्गमानि विमानानि हृदयानि मनीषिणः ॥ ४ ॥

इन्द्रियों को अश्व कहा गया है, जो अपने विषय रूपी मार्ग पर गमन करते हैं, परन्तु मनीषियों का हृदय विमान के समान इन सबसे ऊपर उठा हुआ होता है ॥ ४ ॥

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्महर्षयः । ततो नारायणः साक्षाद्वदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ५ ॥

महान् ऋषियों का कथन है कि यह आत्मा, इन्द्रिय और मन से युक्त होकर भोक्ता बनता है, इसके बाद हृदय में साक्षात् नारायण प्रतिष्ठित होते हैं ॥ ५ ॥

प्रारब्धकर्मपर्यन्तमहिनिर्मोक्वद्वयवहरति । चन्द्रवच्चरते देही स मुक्तश्चानिकेतनः ॥ ६ ॥

प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने तक जीव, सर्प के केंचुल बदलते रहने की तरह अन्य शरीर धारण करता रहता है; किन्तु अनिकेतन (एक ग्राम में एक रात्रि ही निवास करने वाला परिव्राजक) और मुक्त पुरुष आकाश में चन्द्रमा के समान सर्वत्र सञ्चरित होता रहता है ॥ ६ ॥

तीर्थं श्वपचगृहे वा तनुं विहाय याति कैवल्यम् । प्राणानवकीर्यं याति कैवल्यम् ॥ ७ ॥

ज्ञानी पुरुष तीर्थ में शरीर त्याग करे अथवा चाण्डाल के घर में, प्राणों को छोड़कर वह सदा कैवल्य को ही प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

तं पश्चाद्विग्बलिं कुर्यादथवा खननं चरेत् । पुंसः प्रव्रजनं प्रोक्तं नेतराय कदाचन ॥ ८ ॥

शरीर त्याग के पश्चात् उसके शरीर की चाहे दिशाओं को बलि दे दी जाए अर्थात् खुले में डाल दिया

जाए अथवा खोदकर जमीन में गाढ़ दिया जाए (वह कैवल्य को ही प्राप्त करता है)। यह विधि परिव्राजक (संन्यासी) के लिए है, इतर (अन्य) किसी के लिए कभी नहीं ॥ ८ ॥

**नाशौचं नाग्निकार्यं च न पिण्डं नोदकक्रिया । न कुर्यात्पार्वणादीनि ब्रह्मभूताय भिक्षवे ॥ ९ ॥**

जो संन्यासी ब्रह्मलीन हो गया है, उसके निमित्त अशौच (सूतक) नहीं रहता। उसकी आत्म शान्ति के लिए न अग्नि कार्य, न पिण्ड, न तर्पण और न ही पर्व पर किये जाने वाले श्राद्ध (पार्वण) आदि की ही आवश्यकता है ॥ ९ ॥

**दग्धस्य दहनं नास्ति पक्षस्य पचनं यथा । ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न च श्राद्धं न च क्रिया ॥ १० ॥**

जिस प्रकार जले हुए को जलाया नहीं जाता और पके हुए को पुनः पकाया नहीं जाता, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध (संन्यासी) के लिए न कोई श्राद्ध आवश्यक है और न ही कोई क्रिया-कर्म ॥ १० ॥

**यावच्छोपाधिपर्यन्तं तावच्छुश्रूषयेद्गुरुम् । गुरुवद्गुरुभार्यायां तत्पुत्रेषु च वर्तनम् ॥ ११ ॥**

जब तक सांसारिक उपाधियाँ हैं, तब तक गुरु की शुश्रूषा (सेवा) करनी चाहिए। गुरु के समान ही गुरु पत्नी और गुरु सन्तानों के प्रति भी सम्मान पूर्ण व्यवहार करना चाहिए ॥ ११ ॥

**शुद्धमानसः शुद्धचिद्रूपः सहिष्णुः सोऽहमस्मीति प्राप्ते ज्ञानेन विज्ञाने ज्ञेये परमात्मनि हृदि संस्थिते देहे लब्धशान्तिपदं गते तदा प्रभामनोबुद्धिशून्यं भवति ॥ १२ ॥**

मैं शुद्ध मानस, शुद्ध चैतन्य रूप, सहिष्णु, वह सहिष्णु मैं ही हूँ, इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाने से, ज्ञान के अनुभव से और ज्ञेय परमात्मा के हृदय में भली प्रकार प्रतिष्ठित हो जाने से जब देह को शान्ति पद की प्राप्ति हो जाए, तब साधक मन-बुद्धि शून्य होकर चैतन्य रूप हो जाता है ॥ १२ ॥

**अमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम् । एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति । ज्ञानामृततृप्तयोगिनो न किंचित्कर्तव्यमस्ति । तदस्ति चेन्न स तत्त्वविद्ववति । दूरस्थोऽपि न दूरस्थः पिण्डवर्जितः पिण्डस्थोऽपि प्रत्यगात्मा सर्वव्यापी भवति ॥ १३ ॥**

अमृत का पान कर लेने पर दूध से क्या प्रयोजन ? इसी प्रकार अपने आपका ज्ञान (आत्मज्ञान) प्राप्त कर लेने पर वेदों से क्या प्रयोजन (सिद्ध) होता है ? ज्ञानामृत से तृप्त योगी के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। यदि कोई कर्तव्य शेष रहता है, तो इसका अभिप्राय है कि वह तत्त्वविद् नहीं है। वह दूर स्थित होने पर भी दूर नहीं और पिण्ड में स्थित होने पर भी पिण्ड से पृथक् प्रत्यगात्मा है, जो सर्वव्यापी होता है ॥ १३ ॥

**हृदयं निर्मलं कृत्वा चिन्तयित्वाप्यनामयम् । अहमेव परं सर्वमिति पश्येत्परं सुखम् ॥ १४ ॥**

हृदय को निर्मल करके और अपने को 'मैं अनामय ब्रह्म हूँ', ऐसा चिन्तन करके मैं ही सब कुछ हूँ, ऐसा सोचने व देखने से परम सुख प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

**यथा जले जलं क्षिसं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् । अविशेषो भवेत्तद्बृजीवात्मपरमात्मनोः ॥ १५ ॥**

जिस प्रकार जल में जल, दुग्ध में दुग्ध और घृत में घृत डाल देने से, वे एकरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों मिलकर अविशेष अर्थात् अभिन्न (एक) हो जाते हैं ॥ १५ ॥

**देहे ज्ञानेन दीपिते बुद्धिरखण्डाकाररूपा यदा भवति तदा विद्वान्ब्रह्मज्ञानाग्निना कर्मबन्धं निर्देहत् ॥ १६ ॥**

जब ज्ञान के द्वारा देह में स्थित अभिमान विनष्ट हो जाता है तथा बुद्धि अखण्डाकार हो जाती है, तब विद्वान् पुरुष ब्रह्मज्ञान रूपी अग्नि से कर्म बन्धों को भस्म कर देता है ॥ १६ ॥

ततः पवित्रं परमेश्वराख्यमद्वैतरूपं विमलाम्बराभम् ।

यथोदके तोयमनुप्रविष्टं तथात्मरूपो निरूपाधिसंस्थितः ॥ १७ ॥

इसके पश्चात् वह विमल वस्त्र के समान पवित्र और अद्वैतरूप परमेश्वर को प्राप्त करके उसी प्रकार अपने आत्म रूप (सत्य स्वरूप) में प्रतिष्ठित हो जाता है, जिस प्रकार जल दूसरे जल में प्रविष्ट होकर (मिलकर) एकरूप हो जाता है ॥ १७ ॥

आकाशवत्सूक्ष्मशरीर आत्मा न दृश्यते वायुवदन्तरात्मा ।

स बाह्यमध्यन्तरनिश्चलात्मा ज्ञानोल्कया पश्यति चान्तरात्मा ॥ १८ ॥

आत्मा आकाश के सदृश सूक्ष्म और वायु के सदृश दिखाई न पड़ने वाली है। वह बाह्य और अन्दर से भी निश्चल है, जिसे मात्र ज्ञान रूपी उल्का (विद्युत् या मशाल) से ही देखा जा सकता है ॥ १८ ॥

यत्र यत्र मृतो ज्ञानी येन वा केन मृत्युना । यथा सर्वगतं व्योम तत्र तत्र लयं गतः ॥ १९ ॥

ज्ञानी कहीं भी और कैसे भी मृत्यु को प्राप्त करे, वह हर स्थिति में ब्रह्म में ही लय हो जाता है, क्योंकि आकाश के समान ही ब्रह्म भी सर्वव्यापी है ॥ १९ ॥

घटाकाशमिवात्मानं विलयं वेत्ति तत्त्वतः । स गच्छति निरालम्बं ज्ञानालोकं समन्ततः ॥ २० ॥

जिस प्रकार घटाकाश आकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार जो योगी अपने को तत्त्वतः जान लेता है, वह सभी ओर से निरालम्ब और ज्ञानालोक स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

तपेद्वर्षसहस्राणि एकपादस्थितो नरः । एतस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥ २१ ॥

यदि कोई एक पैर पर खड़े होकर एक सहस्र वर्ष तक तप करे, तो भी वह ध्यान योग की षोडश कलाओं में से एक के बराबर भी नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं तत्सर्वं ज्ञातुमिच्छति । अपि वर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नाधिगच्छति ॥ २२ ॥

ज्ञान और ज्ञेय को यदि कोई सम्पूर्णरूप से जानना चाहे, तो सहस्र वर्ष की आयु पर्यन्त शास्त्राध्ययन करने पर भी उसका पार नहीं पा सकता ॥ २२ ॥

विज्ञेयोऽक्षरतन्मात्रो जीवितं वापि चञ्चलम् । विहाय शास्त्रजालानि यत्सत्यं तदुपास्यताम् ॥ २३ ॥

मनुष्य को जानना चाहिए कि मात्र अक्षर ब्रह्म ही सत्य है। मनुष्य का जीवन चञ्चल है; इसलिए शास्त्र-जाल को छोड़कर जो सत्य है, उसी की उपासना करे ॥ २३ ॥

अनन्तकर्मं शौचं च जपो यज्ञस्तथैव च । तीर्थयात्राभिगमनं यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥ २४ ॥

विभिन्न कर्म-शौच, जप, यज्ञ, तीर्थयात्रा आदि की सार्थकता तभी तक है, जब तक तत्त्व की प्राप्ति न हो ॥ अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम् । द्वे पदे बन्धमोक्षाय न ममेति ममेति च ॥ २५ ॥

‘मैं ब्रह्म हूँ’ यही भाव महात्मा पुरुषों के मोक्ष का आधार होता है। बन्धन और मोक्ष के कारण रूप ये ही दो पद हैं, ‘यह मेरा है’ (बन्धन), ‘यह मेरा नहीं है’ (मोक्ष) ॥ २५ ॥

ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते । मनसो हृन्मनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ २६ ॥

मेरा है, यह भाव बन्धन में डालता है और मेरा नहीं है, यह भाव मोक्ष प्रदान करता है। जब मन उन्मनी अवस्था (भाव) को प्राप्त हो जाता है, तब द्वैत भाव समाप्त हो जाता है ॥ २६ ॥

यदा यात्युन्मनीभावस्तदा तत्परमं पदम् । यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परं पदम् ॥ २७ ॥

जब उन्मनी भाव प्राप्त हो जाता है, तभी परम पद प्राप्त होता है। उस अवस्था में जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं परम पद है ॥ २७ ॥

**तत्र तत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम् । हन्यान्मुष्टिभिराकाशं क्षुधार्तः खण्डयेत्तुष्म् । नाहंब्रह्मेति जानाति तस्य मुक्तिर्न जायते ॥ २८ ॥**

परब्रह्म यत्र-तत्र-सर्वत्र अवस्थित है, पर जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि ‘मैं ब्रह्म हूँ’ उसकी मुक्ति उसी प्रकार नहीं होती (अथवा मुक्ति के लिए किया गया प्रयास निष्फल जाता है), जिस प्रकार कोई आकाश में मुष्टि प्रहर करे या भूखा व्यक्ति चावल प्राप्त करने के लिए भूसी को कूटे ॥ २८ ॥

**य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति । स वायुपूतो भवति । स आदित्यपूतो भवति । स ब्रह्मपूतो भवति । स विष्णुपूतो भवति । स रुद्रपूतो भवति । स सर्वेषु तीर्थेषु स्थातो भवति । स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति । स सर्ववेदव्रतचर्यासु चरितो भवति । तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जसानि फलानि भवन्ति । प्रणवानामयुतं जसं भवति । दश पूर्वान्दशोत्तरान्पुनाति । स पद्मिक्तपावनो भवति । स महान्भवति । ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयगुरुतल्पगमनतत्संयोगिपातकेभ्यः पूतो भवति ॥ २९ ॥**

‘जो इस उपनिषद् का नित्य पाठ करता है (अध्ययन करता है), वह अग्नि के समान, वायु के समान, आदित्य के समान, ब्रह्म के समान, विष्णु के समान और रुद्र के समान पवित्र होता है। वह समस्त तीर्थों में स्थान किए हुए के समान होता है, समस्त वेदों का ज्ञाता होता है, समस्त वेदों में वर्णित व्रतों का पालन करने वाला होता है। उसे इतिहास-पुराण आदि के अध्ययन तथा एक लक्ष रुद्रमन्त्र के जप का फल प्राप्त होता है। उसे दस सहस्र ‘प्रणव’ नाम के जप का फल मिलता है। उसके पूर्व की दस और बाद की दस पीढ़ियाँ पवित्र हो जाती हैं। वह साथ में बैठने वालों को पवित्र करता है, जिसके कारण ‘पंक्ति पावन’ हो जाता है। वह महान् होता है। वह ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्ण की चोरी, गुरुपती-गमन तथा ऐसे महापातक करने वालों की संगति से उत्पन्न पातकों से मुक्त (पवित्र) हो जाता है ॥ २९ ॥

**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥ ३० ॥**

ज्ञानीजन विश्वव्यापी भगवान् विष्णु के परमपद को द्युलोक में व्याप्त दिव्य प्रकाश की भाँति देखते हैं ॥ तद्विष्णो विपन्यवो जागृत्वांसः समिन्थते । विष्णोर्यत्परमं पदम् । ॐ सत्यमित्युपनिषद् ॥ ३१ ॥

वे विप्र (ब्रह्मनिष्ठ जीवनयापन करने वाले) आलस्य प्रमादादि से रहित, सदैव श्रेष्ठ कर्म करने वाले साधक विष्णु (अन्तर्यामी परमेश्वर) के परम पद को प्राप्त करते हैं। यह बात सत्य है-ऐसी यह उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) है ॥ ३१ ॥

**ॐ पूर्णमदः..... इति शान्तिः ॥**

**॥ इति पैङ्गलोपनिषदत्समाप्ता ॥**



## ॥ ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसका दूसरा नाम 'अमृतबिन्दूपनिषद्' भी है। इसमें कुल २२ मन्त्र हैं, जिसमें ब्रह्म के अनुसन्धान (साक्षात्कार) का क्रमिक स्वरूप वर्णित हुआ है।

'मन ही मनुष्य के बन्धन एवं मोक्ष का कारणभूत है'-इस शाश्वत तथ्य के उद्घाटन के साथ उपनिषद् का शुभारम्भ हुआ है। 'मन' को निर्विषय बनाकर मुक्ति की प्राप्ति, निर्विषय बनाने की विधि, स्वर (प्रणव) तथा अस्वर द्वारा व्यक्त एवं अव्यक्त 'ब्रह्म' का अनुसन्धान, तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) में एक ही आत्मतत्त्व की स्थिति, आत्मा का शाश्वत-स्वरूप, माया से जीवात्मा का आवृत होना, अज्ञानान्धकार के विनष्ट होने पर जीवात्मा-परमात्मा के एकत्व का बोध, दूध में विद्यमान घृत की तरह चिन्तन-मनन रूप मन्थन द्वारा परमात्मतत्त्व की प्राप्ति और अन्ततः स्वयं के रूप में उस (परमात्मतत्त्व) की अनुभूति-यही सब वर्ण्य विषय हैं, इस ब्रह्मबिन्दूपनिषद् के ये सभी विषय बड़े सरल ढंग से इस उपनिषद् में प्रतिपादित हुए हैं।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च । अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥ १ ॥

मन के दो प्रकार कहे गये हैं, शुद्ध मन और अशुद्ध मन। जिसमें इच्छाओं, कामनाओं के संकल्प उत्पन्न होते हैं, वह अशुद्ध मन है और जिसमें इन समस्त इच्छाओं का सर्वथा अभाव हो गया है, वही शुद्ध मन है ॥ १ ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ २ ॥

मन ही सभी मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का प्रमुख कारण है। विषयों में आसक्त मन बन्धन का और कामना-संकल्प से रहित मन ही मोक्ष (मुक्ति) का कारण कहा गया है ॥ २ ॥

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते । अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥ ३ ॥

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि । यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ ४ ॥

विषय-भोगों के संकल्प से रहित होने पर ही इस मन का विलय होता है। अतः मुक्ति की इच्छा रखने वाला साधक अपने मन को सदा ही विषयों से दूर रखे। इसके अनन्तर जब मन से विषयों की आसक्ति निकल जाती है तथा वह हृदय में स्थिर होकर उन्मनी भाव को प्राप्त हो जाता है, तब वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है ॥ ३-४ ॥

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्दुदि गतं क्षयम् । एतज्ञानं च मोक्षं च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ ५ ॥

मनुष्य को अपना मन तभी तक रोकने का प्रयास करना चाहिए, जब तक कि वह हृदय में विलीन नहीं हो जाता। मन का हृदय में लीन हो जाना ही ज्ञान और मुक्ति है, इसके अतिरिक्त और जो कुछ भी है, वह सब ग्रन्थ का मात्र विस्तार ही है ॥ ५ ॥

नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव च । पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ६ ॥

जब चिन्तनीय और अचिन्तनीय का उस (साधक) के समक्ष कोई अन्तर न रह जाए तथा दोनों में से किसी के प्रति भी मन का पक्षपात भी न रह जाए, तब साधक ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ ६ ॥

स्वरेण संधयेद्योगमस्वरं भावयेत्परम् । अस्वरेण हि भावेन भावो नाभाव इष्यते ॥ ७ ॥

(साधक को) स्वर अर्थात् प्रणव के द्वारा व्यक्त ब्रह्म की अनुभूति करनी चाहिए तथा इसके पश्चात् अस्वर द्वारा (प्रणव से अतीत) अव्यक्त ब्रह्म का चिन्तन करे । प्रणवातीत उस श्रेष्ठ परब्रह्म की प्राप्ति भावना के माध्यम से भाव-रूप में होती है, अभाव रूप में नहीं ॥ ७ ॥

**तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम् । तदब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म संपद्यते ध्रुवम् ॥ ८ ॥**

वह ब्रह्म कलाओं से रहित (एक रस-प्राणादि कलाओं से ऊपर), निर्विकल्प एवं निरञ्जन अर्थात् माया और मल से रहित है । 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ', इस प्रकार जान करके मनुष्य निश्चित ही ब्रह्ममय हो जाता है ॥ निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् । अप्रमेयमनादिं च यत् ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥ ९ ॥

निर्विकल्प, अन्तरहित (अनन्त), हेतु और दृष्टान्त से शून्य, प्रपञ्च से रहित, अनादि, परम कल्याणमय परब्रह्म को जानकर विद्वान् पुरुष स्वयमेव मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

**न निरोधो न चोत्पत्तिर्व बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षा न मुक्तिश्च इत्येषा परमार्थता ॥ १० ॥**

न निरोध (प्रलय) है, न उत्पत्ति है, न बन्धन है और न ही (मोक्ष) साधकता है, न मुक्ति की इच्छा है और न ही मुक्ति है । इस तरह का निश्चय होना ही परमार्थ बोध अर्थात् वास्तविक ज्ञान है ॥ १० ॥

**एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु । स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ११ ॥**

शरीर की इन तीनों जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में एक ही आत्मतत्त्व का सम्बन्ध मानना चाहिए । जो भी व्यक्ति इन तीनों अवस्थाओं से परे हो गया है, उस व्यक्ति का दूसरा जन्म फिर नहीं होता ॥ ११ ॥

**एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १२ ॥**

समस्त भूत प्राणियों का एक ही अन्तर्यामी हर एक प्राणी के अन्तःकरण में विद्यमान है । अलग-अलग जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की तरह वही एक, अनेक रूपों में दिखाई देता है ॥ १२ ॥

**घटसंवृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा । घटो लीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः ॥ १३ ॥**

घट (घड़े) में आकाश तत्त्व पूर्णरूप से विद्यमान है; किन्तु जिस प्रकार घड़े के क्षत-विक्षत होने पर मात्र घड़े का ही विनाश होता है, उसमें भेर हुए आकाश तत्त्व का नहीं, उसी प्रकार शरीर धारण करने वाला जीव भी आकाश के ही सदृश है । शरीर के विनष्ट होने से आत्मा का विनाश नहीं होता, वह शाश्वत है ॥ १३ ॥ घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः । तद्वग्नं न च जानाति स जानाति च नित्यशः ॥ १४ ॥

समस्त जीव-प्राणियों का भिन्न-भिन्न शरीर, घट के ही समान है, जो बार-बार टूटता-फूटता या विनाश को प्राप्त होता रहता है । यह विनाश को प्राप्त होने वाला जड़ शरीर अपने अन्तःकरण में विद्यमान चिन्मय परब्रह्म को नहीं जानता; किन्तु वह सभी का साक्षी परमात्मा, सभी शरीरों को सदा से जानता रहता है ॥ १४ ॥ शब्दमायावृतो यावत्तावत्तिष्ठति पुष्करे । भिन्ने तमसि चैकत्वमेकमेवानुपश्यति ॥ १५ ॥

जब तक नाम-रूपात्मक अस्तित्व सखने वाली माया के द्वारा (यह) जीवात्मा आवृत रहता है, तब तक बँधे हुए की भाँति हृदय-कमल में स्थित रहता है, जब अज्ञान रूपी अन्धकार का विनाश हो जाता है, तब ज्ञान रूपी प्रकाश में विद्वान् पुरुष जीवात्मा एवं परमात्मा के एकत्व का दर्शन प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

**शब्दाक्षरं परं ब्रह्म तस्मिन्क्षीणे यदक्षरम् । तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद्यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः ॥ १६ ॥**

शब्द ब्रह्म (प्रणव) और परब्रह्म दोनों ही अक्षर हैं । इन दोनों में से जिस किसी एक के क्षीण होने पर दूसरा जो अक्षय की स्थिति में बना रहता है, वह (परब्रह्म) ही वास्तविक अक्षर (अविनाशी) है । विद्वान्

पुरुष यदि शान्ति चाहते हों, तो उन्हें उस अक्षर रूप परब्रह्म का ही चिन्तन करना चाहिए ॥ १६ ॥

**द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १७ ॥**

दो विद्याएँ जानने योग्य हैं, प्रथम विद्या को 'शब्द ब्रह्म' और दूसरी विद्या को 'परब्रह्म' के नाम से जाना जाता है। 'शब्द ब्रह्म' अर्थात् वेद-शास्त्रों के ज्ञान में निष्णात होने पर विद्वान् मनुष्य परब्रह्म को जानने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

**ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः। पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥ १८ ॥**

ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि ग्रन्थ का अभ्यास करने के पश्चात् उसमें निहित ज्ञान-विज्ञान को (मूलतत्त्व को) ग्रहण कर ले, तदनन्तर ग्रन्थ को त्याग देना चाहिए। ठीक उसी भाँति, जैसे कि धान्य (अन्न) को प्राप्त करने वाला व्यक्ति अन्न तो प्राप्त कर लेता है और पुआल को खलिहान में ही छोड़ देता है ॥ १८ ॥

**गवामनेकवर्णनां क्षीरस्याप्येकवर्णता। क्षीरवत्पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥ १९ ॥**

अनेक रूप-रंगों वाली गौओं का दुध एक ही रंग का होता है। ठीक वैसे ही बुद्धिमान् व्यक्ति अनेक साम्प्रदायिक चिह्नों को धारण करने वाले मनुष्यों के विवेक को भी गौओं के दूध की तरह ही देखता है। बाहर के चिह्न-भेद से ज्ञान में किसी भी तरह का अन्तर नहीं आने पाता ॥ १९ ॥

**घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम्।**

**सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥ २० ॥**

जिस प्रकार दूध में घृत (घी) मूल रूप से छिपा रहता है, उसी तरह ही प्रत्येक प्राणी के अन्तः-करण में विज्ञान (चिन्मय ब्रह्म) स्थित रहता है। जैसे घृत प्राप्ति के लिए दूध का मन्थन किया जाता है, वैसे ही विज्ञान स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए मन को मथानी रूप में परिणत करके सतत मन्थन (ध्यान एवं विचार) करते रहना चाहिए ॥ २० ॥

**ज्ञानेत्रं समादाय चोद्दरेद्विवत् परम्। निष्कलं निश्चलं शान्तं तद्ब्रह्माहमिति स्मृतम् ॥ २१ ॥**

इसके पश्चात् ज्ञान दृष्टि प्राप्त करके अग्नि के सदृश तेजः-स्वरूप परमात्मा का इस भाँति अनुभव करें कि वह कला शून्य, निश्चल एवं अतिशान्त परब्रह्म में स्वयं ही हूँ। यही विज्ञान कहा गया है ॥ २१ ॥

**सर्वभूताधिवासं च यद्दूतेषु वसत्यपि।**

**सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः तदस्म्यहं वासुदेव इति ॥ २२ ॥**

जिसमें समस्त भूत प्राणियों का निवास है, जो स्वयं भी सभी भूत प्राणियों के हृदय में स्थित है एवं सभी पर अहैतुकी कृपा करने के कारण प्रसिद्ध है। वह सभी आत्माओं में स्थित वासुदेव में ही हूँ, वह सर्वात्मा वासुदेव में स्वयं ही हूँ। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई ॥ २२ ॥

**ॐ सह नाववतु..... इति शान्तिः ॥**

**॥ इति ब्रह्मविन्दूपनिषत्समाप्ता ॥**



## ॥ ब्रह्मविद्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय और उसके स्वरूप का विशद विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या के रहस्यभूत प्रणव ब्रह्म का उल्लेख करते हुए प्रणव की चार मात्राओं की विवेचना है। जीव का स्वरूप, बन्ध-मोक्ष का कारण, हंस विद्या द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति, सकल और निष्कल ब्रह्म का स्वरूप, केवल शास्त्रीय ज्ञान एवं आचरण से पाप-पुण्य की प्राप्ति, प्रणव-हंस का अनुसन्धान ही प्रत्यक्ष यजन, हंस-मंत्र के अभ्यास से समाधि की प्राप्ति, हंस योग का अभ्यास क्रम तथा हंस योगी द्वारा आत्मा के स्वरूप का चिन्तन इत्यादि विषयों का क्रमशः विवेचन किया गया है। ये सभी विषय 'ब्रह्म' के तात्त्विक स्वरूप को स्पष्ट करते हैं, इसलिए इस उपनिषद् की 'ब्रह्मविद्या' यह संज्ञा सार्थक ही है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य अवधूतोपनिषद्)

**अथ ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते ।**

**प्रसादाद्ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः । रहस्यं ब्रह्मविद्याया ध्रुवाग्निं संप्रचक्षते ॥ १ ॥**

अब 'ब्रह्मविद्या' नामक उपनिषद् का वर्णन करते हैं- अद्भुत एवं श्रेष्ठ कर्म करने वाले विष्णु रूप परब्रह्म की कृपा से ध्रुवाग्नि (अटल अग्नि या ज्ञान) के स्वरूप वाली ब्रह्मविद्या का रहस्य बताया जाता है ॥ १ ॥ ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः । शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानं कालत्रयं तथा ॥ २ ॥

जिस प्रकार ब्रह्म को प्रणव के एक अक्षर (ॐ) के रूप में ब्रह्मज्ञानियों ने कहा है। उसी प्रकार उस (ब्रह्मविद्या) के शरीर, स्थान एवं तीन काल का वर्णन करता हूँ ॥ २ ॥

[ब्रह्म की अक्षरात्मक अभिव्यक्ति ॐ से की जाती है, इसलिए ऋषि यहाँ उसको स्पष्ट कर रहे हैं।]

**तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्रयः । तिस्रो मात्रार्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य तु ॥ ३ ॥**

उस ओंकार में तीन देवता, तीन लोक, तीन वेद (ऋक्, यजुः, साम) और तीन अग्नियाँ हैं। शिव स्वरूप इस त्र्यक्षर की तीन और आधी मात्राएँ (अकार, उकार, मकार और अनुस्वार) हैं ॥ ३ ॥

**ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च । अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः ॥ ४ ॥**

ब्रह्मज्ञानियों ने 'अ' कार का शरीर ऋग्वेद, गार्हपत्य अग्नि, पृथिवी तत्त्व और ब्रह्मा को बतलाया है ॥ ४ ॥ यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च । विष्णुश्च भगवान्देव उकारः परिकीर्तिः ॥ ५ ॥

'उ' कार का शरीर यजुर्वेद, दक्षिणाग्नि, आकाशतत्त्व तथा भंगवान् विष्णु को बताया है ॥ ५ ॥

**सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च । ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तिः ॥ ६ ॥**

'म' कार का शरीर सामवेद, आहवनीय अग्नि, द्युलोक, ईश्वर और परमदेव को कहा गया है ॥ ६ ॥

**सूर्यमण्डलमध्येऽथ ह्यकारः शङ्खमध्यगः । उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ॥ ७ ॥**

**मकारस्त्वग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः । तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्या ग्रिरूपिणः ॥ ८ ॥**

शंख के मध्य भाग की तरह 'अ' कार सूर्य मण्डल के मध्य में प्रतिष्ठित है और चन्द्रमा के सदृश 'उ' कार उसी चन्द्र मण्डल में स्थित है। निर्धूम (धूम रहित) अग्नि और विद्युत् में अग्नि सदृश 'म' कार प्रतिष्ठित है। इस तरह से तीन मात्राओं को सूर्य, चन्द्र, अग्नि के रूप में जानना चाहिए ॥ ७-८ ॥

शिखा तु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्तते । अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥ ९ ॥

जिस तरह से दीपक की शिखा (लौ) ऊपर की ओर रहती है, इसी तरह से प्रणव के ऊपर की अर्द्धमात्रा की स्थिति को जानना चाहिए ॥ ९ ॥

[ दीपक की लौ सदा ऊर्ध्वमुखी होती है । अनुस्वार नासिका मूल-मस्तिष्क के उच्च भाग में गुंजरित होता है । इस मात्रा के कारण अ, उ, म् का संयुक्त स्वर ऊर्ध्वमुख हो उठता है, इसलिए इसे ज्योति के अनुरूप कहा गया है । ]

पंद्रसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखा सा दृश्यते परा । सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्य भित्त्वा तथा परा ॥ १० ॥  
द्विसप्तिसहस्राणि नाडीं भित्त्वा च मूर्धनि । वरदः सर्वभूतानां सर्वं व्याप्येव तिष्ठति ॥ ११ ॥

वह शिखा (लौ) पद्म सूत्र के सदृश दृष्टिगोचर होती है । सूर्य सदृश वह नाडी सूर्य का भेदन करके तथा बहतर हजार नाड़ियों का भेदन करके मूर्धा में प्रतिष्ठित होने वाली, सभी प्राणियों को वरदान प्रदान करने वाली एवं सबको व्याप्त करके स्थित रहने वाली है ॥ १०-११ ॥

कांस्यधण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये । ओङ्कारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥ १२ ॥

काँस्य (ताँबा तथा टीन से मिलकर बनी) धातु निर्मित घण्टे का शब्द जिस प्रकार शान्ति प्रदान करता हुआ विलीन हो जाता है, उसी प्रकार ३० कार की साधना द्वारा सभी तरह की इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं ॥ १२ ॥  
यस्मिन्विलीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते । धियं हि लीयते ब्रह्म सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १३ ॥

जिस (तत्त्व) में शब्द विलीन हो जाता है, उसे परब्रह्म कहा गया है । जो बुद्धि ब्रह्म में विलीन हो जाती है, वह अमृत स्वरूप-ब्रह्म स्वरूप कही गई है ॥ १३ ॥

वायुस्तेजस्तथाकाशस्त्रिविधो जीवसंज्ञकः । स जीवः प्राण इत्युक्तो वालाग्रशतकल्पितः ॥ १४ ॥

वायु, तेज तथा आकाश इन तीनों से जीव की उपमा दी जाती है । इस जीव का प्रमाण (आकार) बाल की नोक का सौंवाँ भाग (अति सूक्ष्म) कल्पित किया गया है ॥ १४ ॥

नाभिस्थाने स्थितं विश्वं शुद्धतत्त्वं सुनिर्मलम् । आदित्यमिव दीप्यन्तं रश्मिभिश्चाखिलं शिवम् ॥

वह (जीव) विश्व (संज्ञक), शुद्ध तत्त्व, निर्मल स्वरूप नाभि प्रदेश (नाभिक-न्यूक्लियस) में प्रतिष्ठित है । वह सूर्य के सदृश सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने वाला और कल्याणकारी है ॥ १५ ॥

सकारं च हकारं च जीवो जपति सर्वदा । नाभिरन्धाद्विनिष्क्रान्तं विषयव्याप्तिवर्जितम् ॥ १६ ॥

जीव (शासोच्छ्वास के रूप में) 'स' कार और 'ह' कार (सोऽहं का जप) सर्वदा करता है, इस के प्रभाव से वह जीव नाभिरंध से उत्क्रमण करता रहता है और उसे किसी प्रकार के विषय व्याप्त नहीं करते ॥ तेनेदं निष्कलं विद्यात्क्षीरात्सर्पिर्यथा तथा । कारणेनात्मना युक्तः प्राणायामैश्च पञ्चभिः ॥ १७ ॥

दुग्ध से (मथकर निकाले गये) घृत की भाँति उस निष्कल (कला रहित), सबके कारण रूप आत्म तत्त्व को प्राण के पाँच आयामों द्वारा जाना जाता है । (देह के पाँचों तत्त्वों में प्राण तत्त्व प्रवाहित होते हैं । इन पाँचों में प्रवाहित प्राण के पाँच आयाम माने गये हैं) ॥ १७ ॥

चतुष्कलासमायुक्तो भ्राम्यते च हृदि स्थितः । गोलकस्तु यदा देहे क्षीरदण्डेन वाऽहतः ॥ १८ ॥

जिस प्रकार मथने वाले दण्ड से दुग्ध को मथा जाता है, उसी प्रकार चार कलाओं से युक्त हृदय में स्थित प्राण तत्त्व को (शास-प्रश्वास को) शरीर में भ्रमण कराया जाता है ॥ १८ ॥

एतस्मिन्वस्ते शीघ्रमविश्रान्तं महाखगः । यावत्रिः श्वसितो जीवस्तावन्निष्कलतां गतः ॥ १९ ॥

इस (शरीर) में शीघ्रगामी महापक्षी (खग रूपी जीव) विश्राम न करता हुआ निवास करता है । जब श्वास रुक जाता है, तब जीव निष्कल (कला रहित) हो जाता है ॥ १९ ॥

[ ऋषि ने हृदय को चार कलाओं-विभागों वाला कहा है। वर्तमान शरीर विज्ञानी भी इसे बायें एवं दायें ऑरिकल तथा बायें एवं दायें बेन्द्रिक इन चार भागों में ही बैंटा हुआ मानते हैं। ]

नभस्थं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात् । अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृदत्म् ॥ २० ॥  
स्वप्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते । रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकेन स्थितः सुधीः ॥ २१ ॥  
नाभिकन्दे समौ कृत्वा प्राणापानौ समाहितः । मस्तकस्थामृतास्वादं पीत्वा ध्यानेन सादरम् ॥ २२ ॥  
दीपाकारं महादेवं ज्वलन्तं नाभिमध्यमे । अभिषिच्यामृतेनैव हंसहंसेति यो जपेत् ॥ २३ ॥  
जरामरणरोगादि न तस्य भुवि विद्यते । एवं दिने दिने कुर्यादिणिमादिविभूतये ॥ २४ ॥

आकाश में स्थित निष्कल तत्त्व का चिन्तन करता हुआ, वह भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है। जो पुरुष हृदय में स्थित इस अनाहत ध्वनि युक्त, प्रकाशयुक्त, चिदानन्द 'हंस' को जानता है, वह हंस कहा जाता है। जो ज्ञानी पुरुष रेचक और पूरक को त्याग करके कुम्भक में स्थित होकर प्राण एवं अपान को एक करके मस्तक में प्रतिष्ठित अमृत को ध्यानपूर्वक आदर सहित पीता है तथा जो नाभि के मध्य में दीपक की तरह सुप्रकाशित महादेव पर अमृत का सिंचन करता हुआ 'हंस-हंस' का जप करता है, उसे पृथ्वी पर निवास करते हुए जरा, मरण, रोग आदि विकार नहीं होते तथा वह अणिमादि सिद्धियों-विभूतियों का अधिकारी हो जाता है ॥ २०-२४

[ सोऽहं को उलटने पर हंसः बनता है। हंस उस प्राण रूप जीव को कहा गया है। वह हंस इस परमात्म तत्त्व को लक्ष्य करके 'सोऽहं' में वही हूँ यह भाव करता है, तो वह पदार्थगत विकारों से प्रभावित नहीं होता ]

ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाभ्यासरतः पुमान् । बहवो नैकमार्गेण प्राप्ता नित्यत्वमागताः ॥ २५ ॥

जो ज्ञानी पुरुष सदा ही इस (ब्रह्मविद्या) के अभ्यास में लगा रहता है, उसे ईश्वरत्व की प्राप्ति हो जाती है। अनेक पुरुष इसी एक ही पथ के द्वारा नित्य पद को प्राप्त कर चुके हैं ॥ २५ ॥

हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम् । यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पारमेश्वरीम् ॥ २६ ॥  
तस्य दास्यं सदा कुर्यात्प्रज्ञया परया सह । शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि ॥ २७ ॥  
तत्कुर्यादिविचारेण शिष्यः संतोषसंयुतः । हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरुशुश्रूषया नरः ॥ २८ ॥

हंस रूपी विद्यामृत के सदृश नित्यत्व का इस जगत् में और कोई साधन नहीं है। जो ज्ञानी मनुष्य इस हंस नाम की परम पावन परमेश्वरी महाविद्या को प्रदान करता है, उसकी सर्वदा ज्ञानपूर्वक प्रजा के सहित सेवा करनी चाहिए। गुरु जो कुछ शुभ या अशुभ आदेश दे, उसका पालन शिष्य को बिना कुछ विचार किये सन्तोष वृत्ति से सतत करना चाहिए। इस हंस विद्या को गुरु से प्राप्त करके मनुष्य सदा ही गुरु की शुश्रूषा करे ॥  
आत्मानमात्मना साक्षाद्ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलम् । देहजात्यादिसंबन्धान्वर्णाश्रमसमन्वितान् ॥ २९ ॥  
वेदशास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत् । गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः ॥ ३० ॥

गुरु की सहायता से आत्मा द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करके तथा ब्रह्म को निश्चयपूर्वक बुद्धि द्वारा जान करके वर्णश्रम, जाति आदि के सम्बन्ध एवं वेद तथा शास्त्रों की बातों को निःसंकोच भाव से त्याग कर, गुरु की सदा ही सेवा-शुश्रूषा करे। इसी से मनुष्य का सच्चा कल्याण होता है ॥ २९-३० ॥

गुरुरेव हरिः साक्षात्रान्य इत्यब्रवीच्छुतिः ॥ ३१ ॥

गुरु ही स्वयं साक्षात् हरि हैं, कोई और अन्य नहीं, ऐसा श्रुति का कथन है ॥ ३१ ॥

श्रुत्या यदुक्तं परमार्थमेव तत्पंशयो नात्र ततः समस्तम् ।

श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणं भवेदनर्थाय विना प्रमाणम् ॥ ३२ ॥

श्रुति का कथन संशयरहित परमार्थ रूप ही है। श्रुति का विरोध होने पर अन्य और कुछ भी प्रमाण नहीं है। जो बिना प्रमाण होगा, वह अनर्थकारी अर्थात् हानिकारक होगा ॥ ३२ ॥

**देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कलो देहवर्जितः । आसोपदेशगम्योऽसौ सर्वतः समवस्थितः ॥ ३३ ॥**

देह में स्थित (चेतना) को सकल (कला या विभागयुक्त) तथा देहरहित (परम चेतना) को 'निष्कल' (कलारहित) जानना चाहिए। आस गुरु के उपदेश से ज्ञात होने वाला यह तत्त्व सर्वत्र समभाव से प्रतिष्ठित है ॥ ३४ ॥ हंसहंसेति यो ब्रूयाद्वंसो ब्रह्मा हरिः शिवः । गुरुवक्त्रात् लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतोमुखम् ॥ ३४ ॥

जो ज्ञानी पुरुष हंस-हंस बोलता (सोऽहं साधनारत रहता) है, वह ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव का कल्याणकारी रूप है। वह गुरु के उपदेश से सर्वतोमुख वाले (सर्वत्र व्यास) ब्रह्म को जानने में समर्थ हो सकता है ॥ ३४ ॥ तिलेषु च यथा तैलं पुष्टे गन्धं इवाश्रितः । पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन्स बाह्याभ्यन्तरे तथा ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार तिलों में तैल एवं पुष्टों में गंध विद्यमान रहता है, उसी प्रकार पुरुष के इस शरीर में बाहर-भीतर वही ब्रह्म विद्यमान रहता है ॥ ३५ ॥

**उल्काहस्तो यथालोके द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत् । ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ञानं परित्यजेत् ॥ ३६ ॥**

जिस प्रकार मशाल के प्रकाश से द्रव्य (वस्तु) को देख करके मशाल का परित्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान के माध्यम से ज्ञातव्य विषय की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञान का परित्याग कर दिया जाता है ॥ ३६ ॥ पुष्टवत्सकलं विद्याद्वन्धस्तस्य तु निष्कलः । वृक्षस्तु सकलं विद्याच्छाया तस्य तु निष्कला ॥ ३७ ॥

'सकल' अर्थात् कलायुक्त को पुष्ट की भाँति एवं उसकी गंध को 'निष्कल' (कलारहित) की भाँति माने अथवा 'सकल' वृक्ष के सदृश है और उसकी छाया निष्कल (कलारहित) है ॥ ३७ ॥

**निष्कलः सकलो भावः सर्वत्रैव व्यवस्थितः । उपायः सकलस्तद्वपेयश्चैव निष्कलः ॥ ३८ ॥**

(ऊपर कहे अनुसार) निष्कल एवं सकल भाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। कला सम्बन्ध वस्तु उपाय या साधन है तथा उपेय या साध्य (ब्रह्म) कलारहित है ॥ ३८ ॥

**सकले सकलो भावो निष्कले निष्कलस्तथा । एकमात्रो द्विमात्रश्च त्रिमात्रश्चैव भेदतः ॥ ३९ ॥**

अर्धमात्रा परा ज्ञेया तत ऊर्ध्वं परत्परम् । पञ्चधा पञ्चदैवत्यं सकलं परिपृथ्यते ॥ ४० ॥

सकल में कलायुक्त भाव तथा निष्कल (अखण्ड-निर्विकार) में निष्कल भाव रहता है। (वह सकल) एक मात्रा, दो मात्रा एवं तीन मात्रा के भेद वाला अर्धमात्रा को पर मानना चाहिए, उसके ऊपर परत्पर है। (इस प्रकार) सकल पाँच दैवत वाला पाँच प्रकार का (पंच प्राण एवं पंचभूतात्मक) जानना चाहिए ॥ ३९-४० ॥

**ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः । तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः ॥ ४१ ॥**

ब्रह्म का स्थान हृदय में है, विष्णु कण्ठ में निवास करते हैं, तालु में भगवान् रुद्र तथा ललाट (मस्तक) में महेश्वर स्थित हैं ॥ ४१ ॥

**नासाग्रे अच्युतं विद्यात्स्यान्ते तु परं पदम् । परत्वात् परं नास्तीत्येवं शास्त्रस्य निर्णयः ॥ ४२ ॥**

नासिका के अग्रभाग में अच्युत (सदाशिव) तथा उसके अन्तिम भाग (भूमध्य) में परम पद को प्रतिष्ठित जानना चाहिए। (उस) पर (श्रेष्ठ) से पर (श्रेष्ठ) और कुछ भी नहीं है, ऐसा शास्त्रों का निर्णय है ॥

**देहातीतं तु तं विद्यात्रासाग्रे द्वादशाङ्गुलम् । तदन्तं तं विजानीयात्तत्रस्थो व्यापयेत्प्रभुः ॥ ४३ ॥**

उस देहातीत को नासिका के अग्र भाग से बारह अंगुल ऊपर जानना चाहिए तथा उसके अन्तिम भाग (सहस्रार चक्र) में व्यापक प्रभु को स्थित जानना चाहिए ॥ ४३ ॥

मनोऽप्यन्यत्र निक्षिसं चक्षुरन्यत्र पातितम् । तथापि योगिनां योगो ह्यविच्छिन्नः प्रवर्तते ॥४४॥

मन चाहे इधर-उधर चला जाये और चाहे नेत्र अन्यत्र ही देखते रहें, तब भी योगियों का योग अविच्छिन्न भाव से चलता रहता है ॥ ४४ ॥

**एतत्तु परमं गुह्यमेतत्तु परमं शुभम् । नातः परतरं किंचिन्नातः परतरं शुभम् ॥ ४५ ॥**

यह सबसे गूढ़ रहस्य है, यही सर्वाधिक श्रेष्ठ है, इससे बढ़कर तथा इससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है ॥४५  
**शुद्धज्ञानामृतं प्राप्य परमाक्षरनिर्णयम् । गुह्याद्वृह्यतमं गोप्यं ग्रहणीयं प्रयत्नतः ॥ ४६ ॥**

शुद्ध ज्ञानामृत को प्राप्त करके परम अक्षर तत्त्व का निर्णय करना चाहिए। यह गुह्य से गुह्य एवं गोपनीय है, जो प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करने योग्य है ॥ ४६ ॥

**नापुत्राय प्रदातव्यं नाशिष्याय कदाचन । गुरुदेवाय भक्ताय नित्यं भक्तिपराय च ॥ ४७ ॥**  
**प्रदातव्यमिदं शास्त्रं नेतरेभ्यः प्रदापयेत् । दाताऽस्य नरकं याति सिध्यते न कदाचन ॥ ४८ ॥**

यह ब्रह्मविद्या न तो अपुत्र को देनी चाहिए और न ही अशिष्य को कभी देनी चाहिए। यह विद्या उसी को देनी चाहिए, जो गुरु का सच्चा भक्त हो। सदा नित्य भक्ति परायण रहे, इस शास्त्र विद्या को किसी अन्य को नहीं देना चाहिए। यदि कोई देगा भी, तो वह देने वाला नरक को जायेगा और सिद्धि भी नहीं प्राप्त होगी ॥  
**गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । यत्र तत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा ॥ ४९ ॥**

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्न्यासी कोई भी हो एवं कहीं भी निवास करता हो, परम अक्षर तत्त्व को जानने वाला सर्वदा ज्ञानी ही होता है ॥ ४९ ॥

**विषयी विषयासक्तो याति देहान्तरे शुभम् । ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य सर्वावस्थोऽपि मानवः ॥ ५० ॥**

यदि कोई मनुष्य विषय-भोगी, विषयों में आसक्त रहने वाला हो, तब भी वह इस शास्त्र के ज्ञान से देहान्तर (मृत्यु) के पश्चात् शुभ गति को प्राप्त हो जाता है ॥ ५० ॥

**ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यैः पुण्यपापैर्न लिप्यते । चोदको बोधकश्चैव मोक्षदश्च परः स्मृतः ॥ ५१ ॥**  
**इत्येषां त्रिविधो ज्ञेय आचार्यस्तु महीतले । चोदको दर्शयेन्मार्गं बोधकः स्थानमाचरेत् ॥ ५२ ॥**  
**मोक्षदस्तु परं तत्त्वं यज्ञात्वा परमश्रूते । प्रत्यक्ष्यजनं देहे संक्षेपाच्छृणु गौतम ॥ ५३ ॥**

जो ब्रह्महत्या के पाप तथा अश्वमेधादि के पुण्य में लिप्त नहीं रहते हैं, ऐसे श्रेष्ठ ज्ञानी प्रेरक, बोधक एवं मोक्षदाता माने गये हैं। संसार में आचार्य इन्हीं तीन श्रेणियों के कहे गये हैं। प्रेरक मार्ग दिखलाता है, बोधक-यथार्थ बोध (ज्ञान का आचरण) कराता है, मोक्षप्रदाता-परम श्रेष्ठ तत्त्व प्रदान करता है, जिसे जानकर परमात्मा की प्राप्ति की जा सकती है। हे गौतम! अब तुम शरीर में यजन के सन्दर्भ में श्रवण करो ॥ ५१-५३ ॥  
**तेनेष्ट्वा स नरो याति शाश्वतं पदमव्ययम् । स्वयमेव तु संपश्येदेहे बिन्दुं च निष्कलम् ॥ ५४ ॥**

इस (कृत्य) के करने से मनुष्य शाश्वत, अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है तथा स्वयं अपने शरीर (देह) के अन्दर ही निष्कल (कलारहित) और बिन्दु को देख लेता है ॥ ५४ ॥

**अयने द्वे च विषुवे सदा पश्यति मार्गवित् । कृत्वा यामं पुरा वत्स रेचपूरककुम्भकान् ॥ ५५ ॥**

दोनों अयनों के सदृश दिन-रात्रि के एक-एक प्रहर तक रेचक, पूरक तथा कुम्भक प्राणायाम करो ॥ ५५ ॥  
**पूर्वं चोभयमुच्चार्यं अर्चयेत् यथाक्रमम् । नमस्कारेण योगेन मुद्रयारभ्य चार्चयेत् ॥ ५६ ॥**

सर्वप्रथम दोनों (ॐ तथा हंस) का उच्चारण करके यथाक्रमानुसार पूजन सम्पन्न करे। (हंसः, सोऽहम्-इस) नमस्कार योग के द्वारा तथा (शाम्भवी, खेचरी आदि) मुद्राओं के माध्यम से अर्चन-पूजन करे ॥ ५६ ॥

सूर्यस्य ग्रहणं वत्स प्रत्यक्षयजनं स्मृतम् । ज्ञानात्सायुज्यमेवोक्तं तोये तोयं यथा तथा ॥ ५७ ॥

हे वत्स ! सूर्य का (पूजन हेतु) ग्रहण प्रत्यक्ष यजन (सोऽहम् साधना रूप में) कहा गया है । जिस प्रकार जल में जल होता है, उसी प्रकार से सायुज्यपद सद्ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

एते गुणाः प्रवर्तन्ते योगाभ्यासकृतश्रमैः । तस्माद्योगं समादाय सर्वदुःखबहिष्कृतः ॥ ५८ ॥

योग के अभ्यास में जो श्रम किया जाता है, उसमें इतने गुण हैं कि इस क्रिया द्वारा उद्योगपूर्वक सभी दुःखों को दूर करने की सतत चेष्टा करनी चाहिए ॥ ५८ ॥

योगध्यानं सदा कृत्वा ज्ञानं तन्मयतां व्रजेत् । ज्ञानात्स्वरूपं परमं हंसमन्त्रं समुच्चरेत् ॥ ५९ ॥

सदा ही इस (ब्रह्मविद्या) के मन्त्र का जप करते हुए योग रूपी चिन्तन के द्वारा तन्मयता को प्राप्त करना चाहिए । ज्ञान के माध्यम से ही (ब्रह्म का) परम स्वरूप (हंस मन्त्र) प्राप्त किया जाता है ॥ ५९ ॥

प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः । हंस एव परं सत्यं हंस एव तु शक्तिकम् ॥ ६० ॥

प्राणियों के शरीर में अच्युतरूपी हंस (चेतन जीव) सदा ही प्रतिष्ठित रहता है । हंस ही परम सत्य है तथा हंस ही शक्ति का स्वरूप है ॥ ६० ॥

हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम् । हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम् ॥ ६१ ॥

हंस ही परम वाक्य है, हंस ही वेदों का सार है । हंस ही परम रुद्र है और हंस ही परमात्मा है ॥ ६१ ॥

सर्वदेवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः । पृथिव्यादिशिवान्तं तु अकाराद्याश्रु वर्णकाः ॥ ६२ ॥

कूटान्ता हंस एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः । मातृकारहितं मन्त्रमादिशन्ते न कुत्रचित् ॥ ६३ ॥

सभी देवताओं के मध्य में हंस ही परमेश्वर है । पृथ्वी से लेकर भगवान् शिव तक तथा 'अकार' से लेकर 'क्ष' तक हंस ही वर्ण-मात्राओं की तरह से स्थित है । मातृका (वर्ण) विहीन मन्त्र का उपदेश कहीं भी नहीं दिया जाता है ॥ ६२-६३ ॥

हंसज्योतिरनूपम्य देव मध्ये व्यवस्थितम् । दक्षिणामुखमाश्रित्य ज्ञानमुद्रां प्रकल्पयेत् ॥ ६४ ॥

सदा समाधिं कुर्वीत हंसमन्त्रमनुस्मरन् । निर्मलस्फटिकाकारं दिव्यरूपमनुत्तमम् ॥ ६५ ॥

हंस की अनुपम ज्योति देवताओं के मध्य में प्रतिष्ठित है । दक्षिणामुख (भगवान् शिव) का आश्रय लेकर ज्ञान मुद्रा करे तथा सर्वदा समाधि अवस्था में हंस का चिन्तन करता रहे और निर्मल स्फटिक के समान उत्तम दिव्य रूप का ध्यान करे ॥ ६४-६५ ॥

मध्यदेशे परं हंसं ज्ञानमुद्रात्मरूपकम् । प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ॥ ६६ ॥

पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः क्रियाशक्तिबलोद्यताः । नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः ॥ ६७ ॥

पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ता ज्ञानशक्तिबलोद्यताः । पावकः शक्तिमध्ये तु नाभिचक्रे रविः स्थितः ॥ ६८ ॥

मध्य देश में ज्ञान-मुद्रा के स्वरूप वाले परम हंस का सदैव ध्यान करना चाहिए । प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान-ये पाँच वायु (प्राण) तथा पञ्च कर्मेन्द्रियों से सम्पन्न क्रियाशक्ति अधिक बलवती होती है । नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से सम्पन्न ज्ञानशक्ति अत्यन्त बलवती होती है । (कुण्डलिनी) शक्ति के बीच में अग्नि और नाभिचक्र में रवि प्रतिष्ठित रहता है ॥ ६६-६८ ॥

बन्धमुद्रा कृता येन नासाग्रे तु स्वलोचने । अकारे वहिरित्याहुरुकारे हृदि संस्थितः ॥ ६९ ॥

मकारे च भ्रुवोर्मध्ये प्राणशक्त्या प्रबोधयेत् । ब्रह्मग्रन्थिरकारे च विष्णुग्रन्थिर्हृदि स्थितः ॥ ७० ॥

सर्वप्रथम बन्ध एवं मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। नासाग्र एवं अपने दोनों नेत्रों में 'अ' कार अग्नि, हृदय में 'उ' कार अग्नि और भृकुटियों के मध्य में 'म' कार अग्नि प्रतिष्ठित कही गयी है। इनमें प्राणशक्ति को संयुक्त करे। ब्रह्मग्रन्थि ३०कार (नासाग्र एवं नेत्र) में और विष्णुग्रन्थि हृदय में स्थित कही गयी है ॥ ६९-७० ॥ रुद्रग्रन्थिर्भुवोर्मध्ये भिद्यते ७क्षरवायुना । अकारे संस्थितो ब्रह्मा उकारे विष्णुरास्थितः ॥ ७१ ॥ मकारे संस्थितो रुद्रस्ततो ७स्यान्तः परात्परः । कण्ठं संकुच्य नाड्यादौ स्तम्भिते येन शक्तिः ॥ रसना पीड्यमानेयं षोडशी वोर्ध्वगामिनी । त्रिकूटं त्रिविथा चैव गोलाखं निखरं तथा ॥ ७३ ॥ त्रिशङ्खवज्रमोक्तारमूर्ध्वनालं भ्रुवोर्मुखम् । कुण्डलीं चालयन्प्राणान्भेदयन्शशिमण्डलम् ॥ ७४ ॥

रुद्र ग्रन्थि भृकुटियों के मध्य में स्थित है। यह (तीनों) ग्रन्थि अक्षर वायु (हंस ज्ञान) से भेदन की जाती है। 'अ' कार में ब्रह्मा का, 'उकार' में विष्णु का तथा 'म' कार में रुद्र का स्थान बताया गया है, उसके अन्त में परात्पर ब्रह्म है। कण्ठ का संकोचन (जालन्धरबन्ध) करके आदि शक्ति (कुण्डलिनी शक्ति) को स्तम्भित करे, तत्पश्चात् जिह्वा को दबाकर सोलह आधार वाली, ऊर्ध्वगामिनी, त्रिकूट (इड़ा, पिंगला, सुषुमा तीनों के मिलन स्थल) वाली, तीन प्रकार वाली, ब्रह्मरन्ध्र को जानने वाली अति सूक्ष्म सुषुमा नाड़ी को एवं त्रिशंख (सुख, दुःख, सुख-दुःख तीनों को खाने वाले), वज्र (अयोगी द्वारा दुर्भेद्य), ओंकार युक्त, ऊर्ध्वनाल, भृकुटियों की ओर गमन करने वाली कुण्डली शक्ति तथा प्राणों को चालित करके शशि मण्डल का भेदन करे ॥ ७४ ॥ साध्यन्वज्रकुम्भानि नव द्वाराणि बन्धयेत् । सुमनः पवनारूढः सरागो निर्गुणस्तथा ॥ ७५ ॥

नव द्वारों को बन्द करके वज्र कुम्भक (उज्जायी, शीतली आदि प्राणायाम) का साधन करना चाहिए। मन को प्रसन्न रखकर, सहज स्थिति में निर्गुण होकर पवन पर आरूढ़ (प्राणायाम परायण) होना चाहिए ॥ ७५ ॥ ब्रह्मस्थाने तु नादः स्याच्छंकिन्यमृतवर्षिणी । षट्चक्रमण्डलोद्धारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत् ॥ ७६ ॥

इस (ध्यान) से ब्रह्मस्थान में नाद सुनाई पड़ने लगता है तथा शंकिनी नाड़ी से अमृत की वर्षा होने लगती है और षट्चक्र मण्डल का भेदन होने से ज्ञानरूपी दीपक प्रकाश से युक्त हो जाता है ॥ ७६ ॥ सर्वभूतस्थितं देवं सर्वेशं नित्यमर्चयेत् । आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम् ॥ ७७ ॥

समस्त भूत-प्राणियों में प्रतिष्ठित परम देव का सदा ही पूजन करना चाहिए। वे आत्मस्वरूप, ज्ञानस्वरूप तथा व्याधि से रहित हैं ॥ ७७ ॥

दृश्यन्तं दिव्यरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जनः । हंस हंस वदेद्वाक्यं प्राणिनां देहमाश्रितः । स प्राणापानयोर्ग्रन्थिरजपेत्यभिधीयते ॥ ७८ ॥ सहस्रमेकं द्वययुतं षट्शतं चैव सर्वदा । उच्चरन्पठितो हंसः सोऽहमित्यभिधीयते ॥ ७९ ॥

उन सर्वव्यापी निरञ्जन के दिव्य रूप का दर्शन करके हंस-हंस का निरन्तर जप करते रहना चाहिए। प्राणियों की देह (शरीर) में स्थित प्राण और अपान की ग्रन्थि को अजपा जप कहा जाता है, इससे नित्य प्रति इक्कीस हजार छः सौ बार जप करता हुआ हंस 'सोऽहम्' के रूप में परिणत हो जाता है ॥ ७८-७९ ॥ पूर्वभागे हाथोलिङ्गं शिखिन्यां चैव पश्चिमम् । ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत्सदा यतिः ॥

साधक को सदा ही कुण्डलिनी के पूर्व में अधोलिङ्ग का, शिखा स्थान में पश्चिमलिङ्ग का, भृकुटियों के मध्य में ज्योतिर्लिङ्ग का ध्यान करना चाहिए ॥ ८० ॥

अच्युतोऽहमचिन्त्योऽहमतकर्योऽहमजोऽस्म्यहम् । अव्रणोऽहमकायोऽहमनङ्गोऽस्म्यभयोऽस्म्यहम् ॥ मैं अच्युत हूँ, मैं अचिन्त्य अर्थात् चिन्तन से परे हूँ, मैं तर्क की सीमा से बाहर हूँ, मैं अजन्मा हूँ, मैं

व्रणरहित (स्वस्थ) हूँ, मैं काया से विहीन हूँ, मैं अनङ्ग (अंगरहित) एवं भय से रहित हूँ॥ ८१ ॥

अशब्दोऽहमरूपोऽहमस्पर्शोऽस्म्यहमद्वयः । अरसोऽहमगन्धोऽहमनादिरमृतोऽस्म्यहम् ॥ ८२ ॥

मैं शब्दरहित हूँ, रूप रहित (आकाररहित), स्पर्श से परे एवं अद्वय हूँ । मैं रस से विहीन (रसरहित) हूँ, गन्ध से रहित तथा अनादि अमृत का रूप हूँ॥ ८२ ॥

अक्षयोऽहमलिङ्गोऽहमजरोऽस्म्यकलोऽस्म्यहम् ।

अप्राणोऽहममूकोऽहमचिन्त्योऽस्म्यकृतोऽस्म्यहम् ॥ ८३ ॥

मैं अक्षय (क्षयरहित) हूँ, लिङ्गरहित हूँ, अजर एवं निष्कल अर्थात् कलारहित हूँ । मैं अमूक (वाक् शक्तियुक्त) एवं प्राणरहित हूँ, अचिन्त्य (चिन्तन से परे) तथा मैं ही क्रियारहित हूँ॥ ८३ ॥

अन्तर्याम्यहमग्राहोऽनिर्देशयोऽहमलक्षणः । अगोत्रोऽहमगत्रोऽहमचक्षुष्कोऽस्म्यवागहम् ॥ ८४ ॥

मैं अन्तर्यामी हूँ, अग्राह्य अर्थात् पकड़ने में न आने वाला हूँ, मैं निर्देशरहित एवं लक्षणरहित हूँ । मैं कुल, गोत्र एवं शरीररहित हूँ, मैं नेत्रेन्द्रिय रहित हूँ तथा वागिन्द्रिय रहित भी हूँ॥ ८४ ॥

अदृश्योऽहमवर्णोऽहमखण्डोऽस्म्यहमद्वृतः । अश्रुतोऽहमदृष्टोऽहमन्वेष्टव्योऽमरोऽस्म्यहम् ॥ ८५ ॥

मैं अदृश्य हूँ, अवर्ण हूँ, अखण्ड एवं अदभुत हूँ । मैं अश्रुत हूँ, अदृष्ट हूँ, अन्वेषण योग्य एवं अमर हूँ॥

अवायुरप्यनाकाशोऽतेजस्कोऽव्यभिचार्यहम् । अमतोऽहमजातोऽहमतिसूक्ष्मोऽविकार्यहम् ॥ ८६ ॥

मैं वायुरहित, आकाश तत्त्व से रहित, तेजो विहीन, व्यभिचार (नियमोलंघन) से रहित, अज्ञेय, अजन्मा (जन्मरहित), सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अविकारी (विकार रहित) हूँ॥ ८६ ॥

अरजस्कोऽतमस्कोऽहमसत्त्वोऽस्म्यगुणोऽस्म्यहम् ।

अमायोऽनुभवात्माहमनन्योऽविषयोऽस्म्यहम् ॥ ८७ ॥

मैं सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से रहित हूँ । गुणों से अतीत हूँ, मायारहित, अनुभव स्वरूप हूँ, अनन्य तथा अविषय अर्थात् विषयरहित हूँ॥ ८७ ॥

अद्वैतोऽहमपूर्णोऽहमबाह्योऽहमनन्तरः । अश्रोत्रोऽहमदीर्घोऽहमव्यक्तोऽहमनामयः ॥ ८८ ॥

मैं अद्वैत हूँ, पूर्ण हूँ । मैं न बाहर हूँ और न ही भीतर हूँ, मैं श्रोत्ररहित हूँ, अदीर्घ हूँ, अव्यक्त हूँ और मैं व्याधिरहित भी हूँ॥ ८८ ॥

अद्वयानन्दविज्ञानघनोऽस्म्यहमविक्रियः । अनिच्छोऽहमलेपोऽहमकर्तास्म्यहमद्वयः ॥ ८९ ॥

मैं अद्वय, आनन्दरूप, विज्ञानघन एवं अविकारी अर्थात् विकार रहित हूँ । मैं इच्छा रहित हूँ, अलेप (लिस न रहने वाला) हूँ । मैं ही अकर्ता तथा अद्वैत भी मैं ही हूँ॥ ८९ ॥

अविद्याकार्यहीनोऽहमवाइमनसगोचरः । अनल्पोऽहमशोकोऽहमविकल्पोऽस्म्यविज्वलन् ॥ ९० ॥

मैं अविद्यायुक्त कार्य से रहित हूँ, मैं मन एवं वाणी से अगोचर अर्थात् परे हूँ । मैं अनल्प (अल्परहित) हूँ, शोकरहित हूँ, विकल्परहित एवं विशिष्ट अग्नि से रहित हूँ॥ ९० ॥

आदिमध्यान्तहीनोऽहमाकाशसदृशोऽस्म्यहम् । आत्मचैतन्यरूपोऽहमहमानन्दचिद्रूपः ॥ ९१ ॥

मैं आदि, मध्य एवं अन्त से विहीन हूँ । मैं आकाश के समान हूँ । मैं आत्म चैतन्य रूप हूँ तथा आनन्द चेतन घन के सदृश हूँ॥ ९१ ॥

आनन्दमृतरूपोऽहमात्मसंस्थोऽहमन्तरः । आत्मकामोऽहमकाशात्परमात्मेश्वरोऽस्म्यहम् ॥ ९२ ॥

मैं आनन्द रूप, अमृत स्वरूप हूँ, मैं आत्म-संस्थित हूँ, अन्तर (सभी की अन्तरात्मा) भी मैं ही हूँ। (मैं) आत्मकाम हूँ तथा आकाश से (अधिक व्यापक) परमात्मा स्वरूप परमेश्वर मैं ही हूँ॥ ९२॥

**ईशानोऽस्म्यहमीड्योऽहमहमुत्तमपूरुषः । उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टा ऽहमुत्तरतरोऽस्म्यहम् ॥ ९३ ॥**

मैं ईशान हूँ, पूजनीय हूँ, उत्तम पुरुष हूँ। मैं उत्कृष्ट हूँ, उपद्रष्टा (साक्षीरूप) हूँ तथा परे से परे हूँ॥ ९३॥

**केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधिपः । गुहाशयोऽहं गोसाहं चक्षुषश्वक्षुरस्म्यहम् ॥ ९४ ॥**

मैं केवल हूँ, कवि हूँ, कर्माध्यक्ष हूँ। मैं ही कारणों का कारण अर्थात् अधिपति हूँ, मैं गुप्त आशय हूँ, गुप्त रखने वाला हूँ एवं मैं ही नेत्रों का भी नेत्र हूँ॥ ९५॥

**चिदानन्दोऽस्म्यहं चेता चिद्धनश्चिन्मयोऽस्म्यहम् ।**

**ज्योतिर्मयोऽस्म्यहं ज्यायाज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम् ॥ ९५ ॥**

मैं चिदानन्द हूँ, चेतना प्रदान करने वाला हूँ, चिदधन एवं चिन्मय स्वरूप हूँ। मैं ज्योतिर्मय हूँ और ज्योतिषों में सर्वश्रेष्ठ ज्योतिरूप मैं ही हूँ॥ ९५॥

**तमसः साक्ष्यहं तुर्यतुर्योऽहं तमसः परः । दिव्यो देवोऽस्मि दुर्दर्शो दृष्टाध्यायो ध्रुवोऽस्म्यहम् ॥ ९६ ॥**

मैं अन्धकार में साक्ष्य स्वरूप हूँ, तुर्य का भी तुर्य हूँ, अन्धकार से परे हूँ, मैं दिव्य देवस्वरूप हूँ, दुर्दर्श और दृष्टि का आधार ध्रुव (शाश्वत) हूँ॥ ९६॥

**नित्योऽहं निरवद्योऽहं निष्क्रियोऽस्मि निरञ्जनः ।**

**निर्मलो निर्विकल्पोऽहं निराख्यातोऽस्मि निश्चलः ॥ ९७ ॥**

मैं नित्य हूँ, निर्दोष हूँ, क्रियारहित तथा निरञ्जन हूँ। मैं निर्मल, निर्विकल्प, निराख्यात और निश्चल हूँ॥

**निर्विकारो नित्यपूतो निर्गुणो निस्पृहोऽस्म्यहम् । निरिन्द्रियो नियन्ताहं निरपेक्षोऽस्मि निष्कलः ॥**

मैं निर्विकार (विकार रहित), नित्यपूत (सदैव पवित्र), निर्गुण, निस्पृह हूँ। मैं इन्द्रियों से रहित, नियन्ता, निरपेक्ष एवं निष्कल (कलारहित) हूँ॥ ९८॥

**पुरुषः परमात्माहं पुराणः परमोऽस्म्यहम् । परावरोऽस्म्यहं प्राज्ञः प्रपञ्चोपशमोऽस्म्यहम् ॥ ९९ ॥**

मैं परमात्म पुरुष हूँ, परम पुराण हूँ। मैं परावर (ज्ञानसमुद्र) हूँ, प्राज्ञ-प्रपञ्च का शमन करने वाला भी हूँ॥

**परामृतोऽस्म्यहं पूर्णः प्रभुरस्मि पुरातनः । पूर्णानन्दैकबोधोऽहं प्रत्यगेकरसोऽस्म्यहम् ॥ १०० ॥**

मैं परामृत तथा पुरातन पूर्ण प्रभु हूँ। मैं पूर्णानन्द, एक बोध रूप हूँ तथा प्रत्यग् (अन्तरात्मा) एवं एक - रस (सर्वदा एक रूप) भी मैं ही हूँ॥ १००॥

**प्रज्ञातोऽहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः । एकधा चिन्त्यमानोऽहं द्वैताद्वैतविलक्षणः ॥ १०१ ॥**

मैं प्रज्ञाता (विशेष ज्ञाता) हूँ, मैं प्रशान्त हूँ तथा (मैं ही) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर हूँ। द्वैत एवं अद्वैत के लक्षणों से भिन्न मैं ही एक चिन्तन-मनन करने योग्य हूँ॥ १०१॥

**बुद्धोऽहं भूतपालोऽहं भास्त्रपो भगवानहम् । महादेवो महानस्मि महाज्ञेयो महेश्वरः ॥ १०२ ॥**

मैं बुद्धि हूँ, मैं ही भूतपाल अर्थात् समस्त प्राणियों का गलन करने वाला हूँ, प्रकाश स्वरूप भगवान् भी मैं हूँ। महादेव, महाज्ञेय एवं महान् महेश्वर भी मैं ही हूँ॥ १०२॥

**विमुक्तोऽहं विभुरहं वरेण्यो व्यापकोऽस्म्यहम् । वैश्वानरो वासुदेवो विश्वतश्वक्षुरस्म्यहम् ॥ १०३ ॥**

मैं विमुक्त हूँ, विभु हूँ, वरण करने योग्य हूँ तथा मैं ही व्यापक हूँ। मैं श्रेष्ठ वैश्वानर एवं वासुदेव हूँ तथा सम्पूर्ण विश्व का चक्षु रूप भी मैं ही हूँ॥ १०३॥

विश्वाधिकोऽहं विशादो विष्णुर्विश्वकृदस्प्यहम् ।

शुद्धोऽस्मि शुक्रः शान्तोऽस्मि शाश्वतोऽस्मि शिवोऽस्प्यहम् ॥ १०४ ॥

मैं विश्व से अधिक हूँ, मैं विश्व का कर्ता विशाद विष्णु हूँ, मैं शुद्ध, शुक्र, शान्त स्वरूप हूँ, शाश्वत तथा शिव भी मैं हूँ ॥ १०४ ॥

सर्वभूतान्तरात्माहमस्मि सनातनः । अहं सकृद्विभातोऽस्मि स्वे महिम्नि सदा स्थितः ॥ १०५ ॥

मैं समस्त भूत-प्राणियों का अन्तरात्मा हूँ, मैं नित्य एवं सनातन हूँ । मैं अपनी महिमा में स्थितं रहकर सदैव प्रकाशित होता रहता हूँ ॥ १०५ ॥

सर्वान्तरः स्वयंज्योतिः सर्वाधिपतिरस्प्यहम् । सर्वभूताधिवासोऽहं सर्वव्यापी स्वराडहम् ॥ १०६ ॥

मैं सभी के अन्तःकरण में स्वयं ज्योति रूप में स्थित एवं समस्त प्राणियों का अधिपति हूँ । सभी भूत-प्राणी मुझमें ही निवास करते हैं, मैं सर्वत्र व्याप हूँ तथा सभी का सप्राट हूँ ॥ १०६ ॥

समस्तसाक्षी सर्वात्मा सर्वभूतगुहाशयः । सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ॥ १०७ ॥

मैं सभी का साक्षी, सर्वात्मा, सब भूतों का गुह्य आशय हूँ, मैं सब इन्द्रियों के गुणों का प्रकाशक हूँ तथा समस्त इन्द्रियों से रहित भी हूँ ॥ १०७ ॥

स्थानत्रयव्यतीतोऽहं सर्वानुग्राहकोऽस्प्यहम् । सच्चिदानन्दपूर्णात्मा सर्वप्रेमास्पदोऽस्प्यहम् ॥ १०८ ॥

मैं तीन स्थान (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) से अतीत (परे) हूँ, सभी पर अनुग्रह-अनुकम्पा करने वाला हूँ । मैं सच्चिदानन्द पूर्णात्मा हूँ तथा सभी का प्रेमास्पद हूँ ॥ १०८ ॥

सच्चिदानन्दमात्रोऽहं स्वप्रकाशोऽस्मि चिद्रनः । सत्त्वस्वरूपसन्मात्रसिद्धसर्वात्मकोऽस्प्यहम् ॥

मैं सच्चिदानन्द मात्र हूँ एवं स्वयं प्रकाशमान चेतन घनस्वरूप हूँ । मैं सत्य स्वरूप, सन्मात्र (सत्यस्वरूप), सिद्ध तथा सभी की आत्मा हूँ ॥ १०९ ॥

सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः सर्वबन्धहरोऽस्प्यहम् ।

सर्वग्रासोऽस्प्यहं सर्वद्रष्टा सर्वानुभूरहम् ॥ ११० ॥

एवं यो वेद तत्त्वेन स वै पुरुष उच्यते इत्युपनिषत् ॥

समस्त (प्राणियों का) आधार स्वरूप, सत्य स्वरूप, सभी के बन्धन को हरने (काटने) वाला, सबको अपना ग्रास बनाने वाला, सभी को देखने वाला और सभी का अनुभव रूप मैं ही हूँ । जो इस प्रकार तत्त्व का ज्ञाता है, वही पुरुष कहा जाता है, इस प्रकार की यह उपनिषद् (रहस्य) विद्या है ॥ ११० ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति ब्रह्मविद्योपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ ब्रह्मोपनिषद् ॥

यह कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् है। इसमें कुल २३ मन्त्र हैं, जिसमें ब्रह्म का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय वर्णित होने से इसका नाम 'ब्रह्मोपनिषद्' पड़ा है।

सर्वप्रथम इसमें चतुष्पाद ब्रह्म का स्वरूप बताया गया है, तत्पश्चात् परब्रह्म की अक्षरता, ब्रह्म और निर्वाण की एकरूपता, त्रिवृत्सूत्र (ब्रह्म का तीन रूप-देवगण, प्राण और ज्योति-हृदय में विद्यमान) यज्ञोपवीत का तात्त्विक स्वरूप, शिखा-यज्ञोपवीत आदि का ज्ञान स्वरूप होना ब्राह्मणत्व के लिए आवश्यक है, इत्यादि विषय बड़े अच्छे ढंग से प्रतिपादित हैं। अन्त में 'ब्रह्म' की प्राप्ति का उपाय-सत्य एवं तप को बताते हुए सिद्ध किया गया है कि यह 'आत्मा' ही ब्रह्म है, जैसे दूध में घृत विद्यमान रहता है, उसी तरह सर्वत्र ब्रह्म की सत्ता विद्यमान है। ऐसा अनुभव करने वाला साधक ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद् )

अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति । नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धेति । तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति । जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयमिति । जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीय-मक्षरम् । स आदित्यो विष्णुश्चेश्वरश्च स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितम् ॥ १ ॥

इस विराट् पुरुष के शरीर में आत्मा के चार विशेष स्थान-नाभि, हृदय, कण्ठ एवं ब्रह्मरन्ध्र बताये गये हैं। वहाँ इन चारों क्षेत्रों में चतुर्थ चरण से युक्त ब्रह्म प्रकाशित होता है। ऐसे ही आत्मा की चार अवस्थाएँ-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय कही गयी हैं। इन अवस्थाओं में से जाग्रत् अवस्था में ब्रह्मा, स्वप्नावस्था में विष्णु, सुषुप्तावस्था में रुद्र तथा चतुर्थ तुरीयावस्था में अक्षर रूप परमात्मा प्रकाशित होता रहता है। यह आत्म तत्त्व स्वयं मन एवं हाथ-पैर आदि इन्द्रियों से रहित होते हुए भी प्रकाश युक्त कहा गया है ॥ १ ॥

यत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणः तापसो न तापस इत्येकमेव परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम् ॥ २ ॥

यहाँ (आत्मा अर्थात् ब्रह्म में) लोक-लोक के रूप में नहीं है, देव-देवरूप में नहीं है, वेद-वेदरूप में नहीं है, यज्ञ-यज्ञरूप में नहीं है, माता-माता के रूप में नहीं है, पिता-पितारूप में नहीं है, स्नुषा (पुत्रवधु)-स्नुषा रूप में नहीं है, चाण्डाल-चाण्डालरूप में नहीं है, पौल्कस (भील)-पौल्कस रूप में नहीं है, श्रमण (संन्यासी)-श्रमण के रूप में नहीं है, और तपस्वी-तपस्वी के रूप में नहीं है; किन्तु वह ब्रह्म सदैव एक निर्वाण स्वरूप एवं प्रकाश स्वरूप है ॥ २ ॥

न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुद्धः सर्वविद्येति ॥ ३ ॥

वहाँ (इस ब्रह्म पर) देवगण, ऋषिगण और पितृगण भी शासन करने में समर्थ नहीं हैं। उस अविनाशी ब्रह्म को ज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है, वह सर्वविद्या के स्वरूप वाला है ॥ ३ ॥

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः ।

हृदि प्राणश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुः । हृदि चैतन्ये तिष्ठति ॥ ४ ॥

हृदय में सभी देवगण स्थित हैं, प्राण भी हृदय में निवास करता है और हृदय में ही प्राण तथा ज्योति भी प्रतिष्ठित है। इस तरह से हृदय में तीन स्वरूपों में परम ब्रह्म का निवास है। (इस तथ्य को प्रकट करने के लिए) तीन सूत्रों (धागों) से युक्त 'यज्ञ सूत्र' अर्थात् जनेऊ (यज्ञोपवीत) है, ऐसा उसके रहस्य को समझने वाले मानते हैं। वह अविनाशी परमब्रह्म चेतना के रूप में हृदय में प्रतिष्ठित है॥ ४॥

**यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।**

**आयुष्यमग्रचं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥ ५ ॥**

(यह) परम पवित्र यज्ञोपवीत सर्वप्रथम प्रजापति (ब्रह्माजी) के साथ ही सहज (देहेन्द्रिय की तरह) प्रादुर्भूत हुआ। वह दीर्घायुष्य प्रदान करने वाला है। (हे मनुष्य !) ऐसा जान करके तुम उत्तम और शुभ यज्ञोपवीत धारण करो। यह यज्ञोपवीत तुम्हारे लिए बल एवं तेज प्रदान करने वाला (सिद्ध) हो॥ ५॥

**सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः। यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ६ ॥**

शिखा के सहित मुण्डन करने के पश्चात् (संन्यास धर्म को ग्रहण करके) ज्ञानी जनों को ब्रह्मसूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत का परित्याग कर देना चाहिए। जिस अविनाशी तत्त्व को परब्रह्म कहा गया है, वही इस सूत्र के रूप में प्रतिष्ठित है। ऐसा जान करके उसी श्रेष्ठ यज्ञोपवीत को हृदय में प्रतिष्ठित करना चाहिए॥ ६॥

**सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्। तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥ ७ ॥**

यज्ञोपवीत यह सूचित करता है (कि अविनाशी शाश्वत परब्रह्म हृदय में ही स्थित है), इस कारण से उसे 'सूत्र' के नाम से जाना जाता है। यह 'सूत्र' ही परम पद है। इस परम पद रूपी सूत्र को जिस मनुष्य ने जान लिया, वही ब्राह्मण वेद को जानने में समर्थ अर्थात् पारगामी होता है॥ ७॥

**येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगविज्ञत्त्वदर्शिवान् ॥ ८ ॥**

जिस प्रकार सूत्र रूपी धागों में माला के रूप में मणियों के दाने पिरोये जाते हैं, उसी तरह अविनाशी ब्रह्म में यह सम्पूर्ण जगत् गुण हुआ है, इसलिए इसे सूत्र कहा गया है। तत्त्वज्ञानी एवं योग में निष्णात मनुष्यों को इस सूत्र रूप ब्रह्म को हृदय में प्रतिष्ठित करना चाहिए॥ ८॥

**बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः।**

**ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः।**

**धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥ ९ ॥**

इस श्रेष्ठ योग रूपी ब्रह्मसूत्र को धारण करने वाला विद्वान् मनुष्य ब्रह्मसूत्र का परित्याग कर दे। ब्रह्म स्वरूप को जानना ही 'सूत्र' समझना चाहिए। इस 'ब्रह्मसूत्र' को जो भी मनुष्य धारण करता है, वह चैतन्य स्वरूप है। इस ब्रह्मरूपी सूत्र को धारण करने से व्यक्ति न उच्छिष्ट होता है और न ही अशुद्ध होता है॥ ९॥  
**सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्। ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥ १० ॥**

इस शाश्वत ज्ञान रूपी यज्ञोपवीत को ग्रहण करने वाले मनुष्यों के हृदय में ब्रह्मरूपी सूत्र स्थित रहता है। इस प्रकार के ही मनुष्य ब्रह्मरूपी सूत्र के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले होते हैं तथा वे ही व्यक्ति वास्तव में सच्चे यज्ञोपवीतधारी हैं॥ १०॥

**ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्टा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः। ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥ ११ ॥**

जो मनुष्य ज्ञानरूप शिखा वाले, ज्ञान में ही निष्ठा रखने वाले और ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत को धारण करने वाले हैं, ऐसे उन श्रेष्ठ व्यक्तियों को ज्ञान ही परम पवित्र बना देता है॥ ११॥

अग्रेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा । स शिखीत्युच्यते विद्वान्वेतरे केशधारिणः ॥१२॥

जिस मनुष्य के अग्रि की शिखा को भाँति ज्ञान की शिखा होती है, उनके लिए और दूसरी अन्य शिखा होती ही नहीं है और वे ही सच्चे अर्थों में शिखा को धारण करने वाले तथा विशेष ज्ञानी कहे जाते हैं । इनके अतिरिक्त जो अन्य मनुष्य बाह्य केशों की चोटी रखते हैं, वे व्यक्ति शिखा को धारण करने वाले नहीं कहे जा सकते ॥ १२ ॥

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।

तैः संधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्विद्वै स्मृतम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मण आदि जो (वर्ण) वैदिक कर्म के अधिकारी हैं, उन्हीं (मनुष्यों) को ही यह ब्रह्मसूत्र धारण करना चाहिए, क्योंकि यही इसकी कार्य पद्धति का अनिवार्य अङ्ग कहा गया है ॥ १३ ॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।

ब्राह्मणं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥ १४ ॥

जिस (ब्राह्मण) की शिखा एवं यज्ञोपवीत दोनों ही ज्ञानस्वरूप हैं, ऐसे उन (ब्राह्मणों) का ब्राह्मणत्व ही पूर्ण सफल है, ऐसा ब्रह्मपरायण विद्वज्जन कहते हैं ॥ १४ ॥

इदं यज्ञोपवीतं तु पवित्रं यत्परायणम् ।

स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञः तं यज्ञानं विदुः ॥ १५ ॥

यह (ज्ञान ही) यज्ञोपवीत है, यही परम पवित्र और परायण अर्थात् कल्याणकारी है । अतः ज्ञानवान् मनुष्य ही वास्तव में (सच्चे) यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, स्वयं यज्ञरूप हैं और उन्हीं श्रेष्ठ पुरुषों को 'यज्ञा' कहते हैं ॥ १५ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ १६ ॥

एक ही परमात्मा समस्त भूत-प्राणियों में विद्यमान (छिपा हुआ) है, (वह) सर्वव्यापी है । समस्त भूतों का अन्तरात्मा है, सभी के कर्मों को नियन्त्रित रखने वाला है, सभी भूतों का अधिवास है, साक्षीरूप, चैतन्य स्वरूप, पवित्र एवं निर्गुण (त्रिगुणातीत) है ॥ १६ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १७ ॥

वह (परमात्मा) एक होते हुए भी सभी को वश में रखने वाला है, सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है तथा अपने एक ही रूप को विभिन्न रूपों में प्रकट करता है । इस परम तत्त्व को जो बुद्धिमान् व्यक्ति अपने में प्रतिष्ठित देखते हैं, उन्हें शाश्वत शान्ति की प्राप्ति होती है, दूसरों को इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १७ ॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।

ध्याननिर्मथनाभ्यासदेवं पश्येन्निगृह्णवत् ॥ १८ ॥

आत्मा को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊर्ध्व की अरणि बनाकर ध्यान रूपी मंथन के अभ्यास द्वारा इस अप्रकट आत्मा का साक्षात्कार मनुष्य को करना चाहिए ॥ १८ ॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिणापः स्नोतः स्वरणीषु चाग्निः ।

एवमात्मात्मनि गृह्णतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १९ ॥

जिस प्रकार तिल में तैल, दही में घृत, स्रोत के प्रवाह में जल, काष्ठ में अग्नि अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रहती है, उसी प्रकार से आत्मा भी हमारे अन्तःकरण में विद्यमान है। वह आत्मा सत्य एवं तप के द्वारा देखा जा सकता है ॥ १९ ॥

**ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्मृजते संहरत्यपि । जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः ॥ २० ॥**

जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) तन्तु (सूत्र) का सृजन एवं संहार अर्थात् सूत्र का निर्माण करती और पुनः खींच (निगल) लेती है, उसी प्रकार जीवात्मा भी जाग्रत् एवं स्वप्रावस्था में पुनः-पुनः गमनागमन करता रहता है ॥ २० ॥

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् ।

**सुषुमं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्धि संस्थितम् ॥ २१ ॥**

जाग्रत् अवस्था का वैश्वानर नाम से युक्त आत्मा चक्षु में प्रतिष्ठित रहता है, स्वप्रावस्था का तैजस नामक आत्मा कण्ठ में निवास करता है, सुषुप्तावस्था का प्राज्ञ नामक आत्मा हृदय में स्थित रहता है और तुरीय अर्थात् तीनों अवस्थाओं से परे इस तुर्या नामक चौथी अवस्था का आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में निवास करता है, इस प्रकार से बुद्धिमान् मनुष्य को जानना चाहिए ॥ २१ ॥

**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दमेतज्जीवस्य यं ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥ २२ ॥**

जहाँ मनुष्य की वाकशक्ति एवं एकादश इन्द्रिय मन नहीं पहुँच सकते, वहाँ पर उस आत्मा के आनन्द को जान करके बुद्धिमान् मनुष्य मुक्त हो जाते हैं ॥ २२ ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवान्वितम् ।

**आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदमिति ॥ २३ ॥**

दुर्ध में घृत के सदृश सर्वत्र विद्यमान आत्म तत्त्व, आत्म-विद्या एवं तप के द्वारा ही प्राप्त होता है। यह आत्मा ही स्वयं ब्रह्म है और यही उपनिषदों का परम पद (परब्रह्म) है ॥ २३ ॥

सह नाववतु .....इति शान्तिः ॥

**॥ इति ब्रह्मोपनिषत्समाप्ता ॥**



## ॥ भिक्षुकोपनिषद् ॥

यह शुक्ल यजुर्वेदीय उपनिषद् है। इसमें आत्मकल्याण एवं लोक कल्याण हेतु भिक्षाचर्या द्वारा जीवनयापन करने वाले संन्यास धर्म का संक्षिप्त किन्तु प्रभावपूर्ण वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस नामक संन्यासियों के उदाहरण देकर उनके आहार-विहार, शिखा-सूत्र, वस्त्रादि का उल्लेख किया गया है। अन्त में परमहंस संन्यास के विषय में अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसके द्वारा परमहंस संन्यास की महनीय महिमा एवं उसके कठोर अनुशासन का पता चलता है। कलेवर की दृष्टि से यह उपनिषद् कुल पाँच मन्त्रों की अति लघुकाय स्वरूप वाली है, परन्तु महत्व की दृष्टि से अत्यधिक श्रेष्ठ मानी जाती है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

ॐ अथ भिक्षुणां मोक्षार्थिनां कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसाश्रेति चत्वारः ॥ १ ॥

मोक्षार्थी भिक्षुओं की चार श्रेणियाँ होती हैं-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस ॥ १ ॥

[ यहाँ मोक्षार्थी भिक्षुओं के बारे में अनुशासन में बताये जा रहे हैं। भोगार्थी-स्वार्थी भिक्षु वे, जो अपनी असमर्थता के कारण भिक्षा माँगते हैं। मोक्षार्थी समर्थ होते हुए भी लौकिक बन्धनों से ऊपर उठने के क्रम में भिक्षाजीवी बनते हैं। ]

कुटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

कुटीचक-भिक्षु गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ आदि के समान अष्टग्रास भोजन लेकर योगमार्ग में (योग के माध्यम से) मोक्ष के लिए प्रयत्न करते हैं ॥ २ ॥

[ मात्र शरीर रक्षा के लिए न्यूनतम भोजन का एक प्रमाण अष्टग्रास माना गया है। एक ग्रास उतना अंश माना जा सकता है, जिसे एक साथ मुख में रखकर चबाया जा सके। ऐसे आठ ग्रास खाकर शरीर रक्षा की जा सकती है, ऐसा अनुभव करके यह नियम बनाया गया प्रतीत होता है। ]

अथ बहूदका नाम त्रिदण्डकमण्डलुशिखायज्ञोपवीतकाषायवस्त्रधारिणो ब्रह्मर्षिगृहे मधुमांसं वर्जयित्वाऽष्टौ ग्रासान्भैक्षाचरणं कृत्वा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ३ ॥

बहूदक-भिक्षु त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा, यज्ञोपवीत और काषाय वस्त्र धारण करते हैं तथा मधु-मांस को छोड़कर ब्रह्मर्षि (किसी सदाचारी नैष्ठिक) के घर में भिक्षाचरण द्वारा आठ ग्रास भोजन ग्रहण करते हुए योगमार्ग द्वारा मोक्षानुसंधान करते हैं ॥ ३ ॥

अथ हंसा नाम ग्राम एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रं तदुपरि न वसेयुः । गोमूत्रगोमयाहारिणो नित्यं चान्द्रायणपरायणा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ४ ॥

हंस नामक-भिक्षु किसी गाँव में एक रात्रि, नगर में पंचरात्रि तथा (तीर्थ) क्षेत्र में सात रात्रि से अधिक निवास नहीं करते। वे गोमूत्र और गोमय (गोबर) का आहार ग्रहण करते हुए नित्य चान्द्रायण व्रत परायण होकर योग मार्ग से मोक्ष की खोज करते हैं ॥ ४ ॥

[ यहाँ गोमूत्र और गोमय को अन्तःकरण शोधन के उद्देश्य से आहार रूप में-पंचगव्य आदि के रूप में ग्रहण करने का विधान प्रस्तुत किया गया है। ]

अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुजडभरतदत्तात्रेयशुकवामदेवहारीतक-प्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गं मोक्षमेव प्रार्थयन्ते । वृक्षमूले शून्यगृहे श्मशानवासिनो वा साम्बरा वा दिगम्बरा वा । न तेषां धर्माधर्मों लाभालाभौ शुद्धाशुद्धौ द्वैतवर्जिता समलोष्टाश्म-काञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैवेति पश्यन्ति । अथ जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः शुक्लध्यानपरायणा आत्मनिष्ठाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले भैक्षमाचरन्तः शून्यागारदेवगृहतृणकूट वल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकन्द्र-कुहरकोटरनिर्झरस्थिण्डले तत्र ब्रह्ममार्गं सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचरणेन संन्यासेन देहत्यागं कुर्वन्ति ते परमहंसा नामेत्युपनिषत् ॥ ५ ॥

परमहंस नामक भिक्षु संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, जडभरत, दत्तात्रेय, शुकदेव, वामदेव और हारीतक आदि की तरह अष्टग्रास भोजन ग्रहण करके योगमार्ग में विचरण करते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। परमहंसों का निवास स्थान वृक्षमूल, शून्यगृह अथवा श्मशान होता है। वे वस्त्रयुक्त (साम्बर) अथवा दिगम्बर होते हैं। उनके लिए धर्म-अधर्म, लाभ-अलाभ कुछ नहीं होता। वे शुद्ध और अशुद्ध द्वैत के सन्दर्भ में कोई अभिमत नहीं रखते। वे मिट्टी, पत्थर और सोने में कोई भेद नहीं करते अर्थात् उनके लिए ये सभी समान हैं। सभी वर्णों में वे भिक्षाचरण करते हैं एवं सर्वत्र अपनी आत्मा का ही दर्शन करते हैं। वे जातरूप धर (पैदा हुए बालक की तरह निर्लिपि, निर्विकार, शुचि-अशुचि भाव से परे) होते हैं। वे (परमहंस) निर्द्वन्द्व, परिग्रहरहित, शुक्ल-ध्यान परायण, आत्मनिष्ठ, जीवन धारण करने की इच्छा से यथोक्त काल में भिक्षाटन करने वाले, एकान्त घर, देवस्थल, झोपड़ी, वल्मीक (बाँबी), वृक्षमूल, कुलालशाला (कुम्भकार गृह), यज्ञशाला, नदीतट, पर्वत स्थित गुहा, टीला, गड्ढा, झरना आदि किसी भी स्थल पर निवास करते हैं। वहाँ निवास करते हुए वे भली प्रकार (आत्मिक विभूतियों से) सम्पन्न होकर शुद्ध मन से परमहंस वृत्ति का पालन करते हुए संन्यास द्वारा शरीर त्याग करते हैं। वे (ऐसा करने वाले) परमहंस (कहलाते) हैं-ऐसा इस उपनिषद् का अभिमत है ॥ ५ ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति भिक्षुकोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल पाँच ब्राह्मण हैं, जिसमें महर्षि याज्ञवल्क्य एवं भगवान् सूर्य नारायण के प्रश्नोत्तर रूप में 'आत्मतत्त्व' का विशद विवेचन हुआ है।

प्रथम ब्राह्मण में सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए अष्टांग योग की आवश्यकता और पुनः चार यम, नौ नियम, आसन, प्राणायामादि षडंग योग, देह के पंच दोष, तारक दर्शन, लक्ष्यत्रय दर्शन, तारक और अमनस्क रूप योग के दो भेद, आत्मनिष्ठ की ब्रह्मरूपता आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। द्वितीय ब्राह्मण में सर्वाधाररूप ज्योति का आत्मतत्त्व के रूप में वर्णन किया गया है, साथ ही ज्योति रूप आत्मा के ज्ञान का फल, शास्त्रभवी मुद्रा, पूर्णिमा दृष्टि, मुद्रा की सिद्धि और उसके लक्षण, प्रणवरूप आत्म प्रकाश का अनुभव, षण्मुखी मुद्रा से प्रणव की सिद्धि, प्रणवविद् पर कर्म का अप्रभाव, उन्मनी अवस्था से अमनस्क स्थिति की प्राप्ति, ब्रह्मानुसन्धान से कैवल्य की प्राप्ति, ब्रह्मविद् का स्वरूप, सुषुप्ति और समाधि में भेद, ब्रह्म का ब्रह्म रूप होना, जाग्रत् आदि पंच-अवस्था, संसार से पार होने का मार्ग, मन ही बन्ध-मोक्ष का कारण, निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास से श्रेष्ठ ब्रह्मविद् होना और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति आदि का विशद विवेचन है। तृतीय ब्राह्मण में परमात्मज्ञान एवं लक्ष्य दर्शन से अमनस्कता की प्राप्ति और उससे संसार बन्धन से निवृत्ति, तारक मार्ग से मनोनाश की प्राप्ति, उन्मनी सिद्ध योगी का ब्रह्मरूप होना आदि वर्णित है। चतुर्थ ब्राह्मण में व्योम पंचक का ज्ञान और उसका प्रतिफल तथा राजयोग का सारांश विवेचित है। पंचम ब्राह्मण में, परमात्मा में मन को लीन करने का अभ्यास, अमनस्क अवस्था के अभ्यास से ब्रह्म स्थिति की प्राप्ति, अमनस्कसिद्ध पुरुष की महिमा आदि का वर्णन है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ ( द्वष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद् )

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

याज्ञवक्ल्यो है वै महामुनिरादित्यलोकं जगाम ।

तमादित्यं नत्वा भो भगवन्नादित्यात्मतत्त्वमनुबूहीति ॥ १ ॥

महामुनि याज्ञवल्क्य (एकबार) आदित्यलोक में गये और वहाँ भगवान् आदित्य को प्रणाम करके कहा-हे भगवन् आदित्य ! आप हमें आत्म तत्त्व का उपदेश प्रदान करें ॥ १ ॥

स होवाच नारायणः । ज्ञानयुक्तयमाद्यष्टाङ्गयोग उच्यते ॥ २ ॥

तब सूर्यनारायण ने कहा—तत्त्वज्ञान सहित यम-नियम आदि को अष्टाङ्ग योग कहा जाता है ॥ २ ॥

शीतोष्णाहारनिद्राविजयः सर्वदा शान्तिर्निश्चलत्वं विषयेन्द्रियनिग्रहश्चैते यमाः ॥ ३ ॥

सर्दी-गर्मी, आहार एवं निद्रा पर विजय प्राप्त करना, सर्वदा शान्त रहना और निश्चल होकर इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, ये सभी यम हैं ॥ ३ ॥

गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन । तुष्टिर्निःसङ्गता

एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः ॥ ४ ॥

गुरु भक्ति, सत्य मार्ग में अनुरक्ति, यथालाभ-सन्तोष, एकान्त निवास, अनासक्ति, मनोनिवृत्ति, फल की इच्छा न करना और वैराग्य भाव-ये सभी नियम हैं ॥ ४ ॥

सुखासनवृत्तिश्विरवासश्वेवमासननियमो भवति ॥ ५ ॥

सुखासन वृत्ति (सुखपूर्वक एक वृत्ति में दीर्घकाल तक स्थित रहना) और चिरनिवास (बिना प्रयास के चिरकाल तक एक स्थिति में रहना)—ये आसन के नियम हैं ॥ ५ ॥

पूरककुम्भकरेचकैः षोडशचतुःषष्ठिद्वात्रिंशत्संख्यया यथाक्रमं प्राणायामः ॥ ६ ॥

षोडश मात्राओं द्वारा पूरक, चौंसठ मात्राओं द्वारा कुम्भक और बतीस मात्राओं द्वारा रेचक करने को प्राणायाम कहते हैं ॥ ६ ॥

विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः ॥ ७ ॥

इन्द्रियों के विषयों से मन का निरोध करना प्रत्याहार कहलाता है ॥ ७ ॥

विषयव्यावर्तनपूर्वकं चैतन्ये चेतःस्थापनं धारणं भवति ॥ ८ ॥

विषयों से निरोधित मन को चैतन्य सत्ता में स्थित करना धारणा है ॥ ८ ॥

सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम् ॥ ९ ॥ ध्यानविस्मृतिःसमाधिः ॥ १० ॥

सभी शरीरों में एक ही चैतन्य तत्त्व विद्यमान है, इसी एकतानता (निरन्तर चिन्तन) को ध्यान कहा गया है और ध्यान को भी विस्मृत कर देना (भूल जाना) समाधि है ॥ ९-१० ॥

एवं सूक्ष्माङ्गनि । य एवं वेद स मुक्तिभागभवति ॥ ११ ॥

इस प्रकार ये सभी सूक्ष्म अङ्ग हैं, जो इन्हें इस प्रकार जानता है, वह मुक्ति का अधिकारी होता है ॥ ११ ॥

## ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधनिःश्वासभयनिद्राः ॥ १ ॥

इस शरीर के काम, क्रोध, निःश्वास (श्वासावरोध), भय और निद्रा (अज्ञान-निद्रा) -ये पाँच दोष होते हैं ॥ १ ॥

तत्रिरासस्तु निःसंकल्पक्षमालघ्वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनम् ॥ २ ॥

संकल्पहित होना, क्षमाशील होना, अल्पाहार करना, निर्भय होना और तत्त्व चिन्तन करना, ये उपर्युक्त (शरीर के) दोषों को दूर करने के साधन हैं ॥ २ ॥

निद्राभयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णावर्तं दारपङ्कं संसारवार्धं तरीतुं सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वादिगुणान्तिक्रम्य तारकमवलोकयेत् ॥ ३ ॥

निद्रा (अज्ञान-निद्रा) और भय सर्प हैं, हिंसा आदि तरंगें हैं, तृष्णा भँवर है, स्त्री पङ्क है (स्त्री के प्रति भोग्याभाव कीचड़ है) —ऐसे संसार रूपी सागर से पार जाने के लिए सूक्ष्म मार्ग का अवलम्बन लेकर सत्त्व आदि गुणों से परे (ऊपर) होकर तारक ब्रह्म का दर्शन करना चाहिए (उसका ध्यान करना चाहिए) ॥ ३ ॥

भूमध्ये सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं तारकं ब्रह्म ॥ ४ ॥

दोनों भौंहों के मध्य में सच्चिदानन्द स्वरूप, तेजः-सम्पन्न, कूट रूप तारक ब्रह्म का निवास है ॥ ४ ॥

तदुपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम् ॥ ५ ॥

उस (तारक ब्रह्म) की प्राप्ति के उपायों में लक्ष्यत्रय का अवलोकन करना चाहिए ॥ ५ ॥

मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्धर्पर्यन्तं सुषुप्ता सूर्याभा । तन्मध्ये तडित्कोटिसमा मृणालतन्तु-  
सूक्ष्मा कुण्डलिनी । तत्र तमोनिवृत्तिः । तदर्शनात्सर्वपापनिवृत्तिः ॥ ६ ॥

मूलाधार से ब्रह्मरन्धर पर्यन्त सूर्य के समान आभा वाली सुषुप्ता नामक नाड़ी है। उसके बीच में उससे कोटिगुनी मृणाल तन्तु जितनी सूक्ष्म कुण्डलिनी है। वहाँ (उसके ज्ञान से) तमोगुण की निवृत्ति होती है। उसके दर्शन से समस्त पाप विनष्ट होते हैं ॥ ६ ॥

तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्धद्वये फूत्कारशब्दो जायते ।

तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यनीलज्योतिः पश्यति । एवं हृदयेऽपि ॥ ७ ॥

तर्जनी अङ्गुली के अग्रभाग से दोनों कानों को बन्द करने पर उस (साधक) के कर्णछिद्रों से फूत्कार शब्द होता है। जब उस शब्द में मन को स्थिर किया जाता है, तब नेत्रों के मध्य में नीलवर्ण ज्योति का दर्शन होता है। इसी प्रकार हृदय में भी (वही ज्योति) दिखाई पड़ती है ॥ ७ ॥

बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुःषडष्टदशद्वादशाङ्गुलीभिः क्रमान्नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्त-  
भङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेतं व्योमत्वं पश्यति स तु योगी ॥ ८ ॥

बाह्य लक्ष्य यह है कि (जिसे) नासिका के अग्रभाग से चार, छः, आठ, दस और बारह अंगुल की दूरी पर क्रम से नीलवर्ण, श्यामवर्ण, रक्तवर्ण, पीतवर्ण और दो रंगों के मिश्रित रंग युक्त आकाश दिखाई पड़ता है, वह योगी हो जाता है ॥ ८ ॥

चलनदृष्टया व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्टये ज्योतिर्मर्यूखा वर्तन्ते । तददृष्टिः स्थिरा भवति ॥ ९ ॥

चल दृष्टि (चञ्चल दृष्टि) से व्योम भाग को देखते हुए पुरुष की दृष्टि के अग्रभाग में ज्योति युक्त किरणें दिखाई पड़ती हैं, उससे दृष्टि में स्थिरत्व आ जाता है ॥ ९ ॥

शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलिमानं ज्योतिः पश्यति तदाऽमृतत्वमेति ॥ १० ॥

शीर्ष (मस्तिष्क) के ऊपर द्वादशाङ्गुल की दूरी पर ज्योति दिखाई पड़ती है। उसे देखने वाले को अमरत्व प्राप्त हो जाता है ॥ १० ॥

मध्यलक्ष्यं तु प्रातश्चित्रादिवर्णसूर्यचन्द्रवह्निज्वाला वलीवत्तद्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति ॥ ११ ॥

तदाकाराकारी भवति ॥ १२ ॥

मध्य लक्ष्य इस प्रकार है कि प्रातःकालीन वेला में सूर्य, चन्द्र और अग्नि ज्वालवत् और उससे विहीन अन्तरिक्षवत् दिखाई देता है। उसके आकार की तरह ही आकार वाला हो जाता है ॥ ११-१२ ॥

अभ्यासान्निर्विकारं गुणरहिताकाशं भवति । विस्फुरत्तारकाकारगाढतमोपमं पराकाशं भवति । कालानलसमं द्योतमानं महाकाशं भवति । सर्वोत्कृष्टपरमाद्वितीयप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति । कोटिसूर्यप्रकाशसंकाशं सूर्यकाशं भवति ॥ १३ ॥

अभ्यास के द्वारा वह विकाररहित, त्रिगुणातीत आकाश रूप होता है। अत्यंत प्रगाढ़ प्रकाशयुक्त तारकों के समान पराकाश होता है। कालाग्नि के समान प्रकाशमान महाकाश होता है। सर्वोत्कृष्ट परम अद्वितीय और विशिष्ट रूप से द्योतमान प्रकाश तत्त्वाकाश होता है। करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान सूर्यकाश होता है ॥

एवमभ्यासात्तन्मयो भवति य एवं वेद ॥ १४ ॥

जो इस तथ्य को इस प्रकार जानता है, वह अभ्यासपूर्वक तन्मय हो जाता है ॥ १४ ॥

## ॥ तृतीयः खण्डः ॥

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविभागतः । पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति । तारकं द्विविधम् मूर्तितारकममूर्तितारकमिति । यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तितारकम् । यदभूयुगातीतं तदमूर्तितारकमिति ॥ १ ॥

उस योग के दो विभाग हैं । एक पूर्व तथा दूसरा उत्तर । पूर्व विभाग को तारक ब्रह्म कहते हैं और उत्तर विभाग को अमनस्क कहते हैं । तारक ब्रह्म के भी दो प्रकार हैं-एक मूर्तितारक और दूसरा अमूर्ति तारक । जो इन्द्रियों तक सीमित है, वह मूर्तितारक है, जो दोनों भौंहों से परे-आगे है, वह अमूर्तितारक है ॥ १ ॥

**उभयमपि मनोयुक्तमध्यसेत् । मनोयुक्तान्तरदृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति ॥ २ ॥**

इन दोनों (मूर्तितारक और अमूर्तितारक) का मनयुक्त (मनोयोग पूर्वक) होकर अभ्यास करना चाहिए; क्योंकि मनयुक्त अन्तर्दृष्टि तारक ब्रह्म को प्रकट करने में सक्षम होती है ॥ २ ॥

**भूयुगमध्यबिले तेजस आविर्भावः । एतत्पूर्वतारकम् ॥ ३ ॥**

इसके बाद भूयुगल के मध्य स्थित छिद्र में तेज आविर्भूत होता है । यह पूर्व तारक ब्रह्म है ॥ ३ ॥

**उत्तरं त्वमनस्कम् । तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते । तदर्शनादर्णिमादिसिद्धिः ॥ ४ ॥**

उत्तर विभाग तो अमनस्क (मनरहित) होता है । तालुमूल के ऊर्ध्व भाग में महाज्ज्योति का निवास होता है । उसके दर्शन से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ४ ॥

**लक्ष्येऽन्तर्बाह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां चेयं शाम्भवी मुद्रा भवति । सर्वतन्त्रेषु गोप्यमहाविद्या भवति । तज्ज्ञानेन संसारनिवृत्तिः । तत्पूजनं मोक्षफलदम् ॥ ५ ॥**

जब लक्ष्य में अन्तः-बाह्य दृष्टि निर्निमेष (स्थिर) हो जाती है, तो यह शाम्भवी मुद्रा होती है । समस्त तन्त्रों में गोपनीय यह ब्रह्म विद्या है । उसके ज्ञान से संसार से निवृत्ति हो जाती है, उसका पूजन मोक्षरूपी फल प्रदान करता है ॥ ५ ॥

**अन्तर्लक्ष्यं जलज्ज्योतिःस्वरूपं भवति । महर्षिवेद्यं अन्तर्बाह्येन्द्रियैरदृश्यम् ॥ ६ ॥**

अन्तर्लक्ष्य दीसिमान् ज्योति के समान है, इसे महर्षिगण ही जान सकते हैं । यह बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों (नेत्रों-मन आदि) के द्वारा अगोचर है ॥ ६ ॥

## ॥ चतुर्थः खण्डः ॥

सहस्रारे जलज्ज्योतिरन्तर्लक्ष्यम् । बुद्धिगुहायां सर्वाङ्गसुन्दरं पुरुषरूपमन्तर्लक्ष्यमित्यपरे । शीर्षान्तर्गतमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति केचित् । अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्यमित्येके ॥ १ ॥

सहस्रार दल में दीसिमान् ज्योति के समान अन्तर्लक्ष्य है । कुछ अन्य लोग ऐसा मानते हैं कि बुद्धि रूपी गुहा में सर्वाङ्ग सुन्दर पुरुष का रूप अन्तर्लक्ष्य है । कितने ही ऐसा नानते हैं कि शीर्ष के अन्तर्गत स्थित मण्डल के मध्य पाँच मुख वाले और उमा सहित नीलकण्ठ भगवान् शंकर का प्रशान्त रूप भी अन्तर्लक्ष्य है । अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष ही अन्तर्लक्ष्य है, ऐसा भी कितने ही विद्वान् मानते हैं ॥ १ ॥

उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव । तत्त्वक्षयं शुद्धात्मदृष्टया वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति ॥ २ ॥

उपर्युक्त सभी विकल्प (विभेद) आत्मा के ही हैं । उस लक्ष्य (अन्तर्लक्ष्य) को जो शुद्ध आत्म-दृष्टि से देखता है, वह ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है ॥ २ ॥

जीवः पञ्चविंशकः स्वकल्पितचतुर्विंशतितत्त्वं परित्यज्य षड्विंशः परमात्माहमिति निश्चयाज्जीवन्मुक्तो भवति ॥ ३ ॥

जीव पच्चीसवाँ तत्त्व है । स्वकल्पित चौबीस तत्त्वों को त्यागकर छब्बीसवाँ मैं स्वयं परमात्मा हूँ, जब वह ऐसा निश्चय करता है, तो इस निश्चय से वह जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनेन जीवन्मुक्तिदशायां स्वयमन्तर्लक्ष्यो भूत्वा परमाकाशाखण्ड-मण्डलो भवति ॥ ४ ॥

इस प्रकार अन्तर्लक्ष्य का दर्शन प्राप्त कर लेने से वह (जीव) जीवन्मुक्त की ओर अग्रसर होते हुए स्वयं अन्तर्लक्ष्य होकर परम आकाशस्वरूप अखण्ड मण्डल हो जाता है ॥ ४ ॥

## ॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ ह याज्ञवल्क्य आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ । भगवन्नन्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तम् ।  
मया तत्र ज्ञातम् । तद्ब्रूहि मह्यम् ॥ १ ॥

इसके पश्चात् ऋषि याज्ञवल्क्य ने आदित्य मण्डल में स्थित पुरुष से प्रश्न किया—भगवन्! अन्तर्लक्ष्य आदि के विषय में बहुत कुछ कहा गया । उसे मैं नहीं समझ सका । उसे अब आप स्वयं ही मुझे समझाएँ ॥ १ ॥

तदु होवाच पञ्चभूतकारणं तडित्कूटाभं तद्वच्यतुःपीठम् । तन्मध्ये तत्त्वप्रकाशो भवति ।  
सोऽतिगूढं अव्यक्तश्च ॥ २ ॥

(यह सुनकर) सूर्यनारायण ने कहा—पञ्चभूतों का आदिकारण विद्युत् पुंज के समान है, उसमें एक चतुःपीठ है, जिसके बीच में तत्त्व का प्रकाश होता है, वह प्रकाश अतिगूढ़ और अव्यक्त है ॥ २ ॥

तज्ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद्वाहाभ्यन्तर्लक्ष्यम् ॥ ३ ॥

वह (अव्यक्त प्रकाश) ज्ञानरूपी प्लव (नौका) में आरूढ़ व्यक्ति के लिए जानने योग्य है । वह बाह्य और आभ्यन्तर लक्ष्य है ॥ ३ ॥

तन्मध्ये जगल्लीनम् । तत्रादविन्दुकलातीतमखण्डमण्डलम् ।

तत्सगुणनिर्गुणस्वरूपम् । तद्वेत्ता विमुक्तः ॥ ४ ॥

उसी के मध्य जगत् लीन हो जाता है । वह नाद, बिन्दु और कला से परे अखण्ड मण्डल है । वह सगुण और निर्गुण स्वरूप है । उसको जानने वाला विमुक्त हो जाता है ॥ ४ ॥

आदावग्निमण्डलम् । तदुपरि सूर्यमण्डलम् । तन्मध्ये सुधाचन्द्रमण्डलम् । तन्मध्ये खण्ड-ब्रह्मतेजो मण्डलम् । तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरम् । तदेव शाम्भवीलक्षणम् ॥ ५ ॥

सर्वप्रथम अग्नि मण्डल है। उसके ऊपर सूर्य मण्डल है। उसके बीच में सुधा स्वरूप चन्द्र मण्डल है। उसके बीच में अखण्ड ब्रह्म का तेजोमण्डल है। वह विद्युत् रेखावत् श्वेत और प्रकाशमान है। वही शाम्भवी मुद्रा का लक्षण है॥ ५॥

**तद्दर्शने तिस्रो दृष्टयः अमा प्रतिपत् पूर्णिमा चेति । निमीलितदर्शनममादृष्टिः । अर्धोन्मीलितं प्रतिपत् । सर्वोन्मीलितं पूर्णिमा भवति । तासु पूर्णिमाभ्यासः कर्तव्यः ॥ ६ ॥**

उसका दर्शन करने से तीन स्वरूप दृष्टि में आते हैं। ये रूप-अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा रूप हैं। निमीलित (पलक बन्द होने की स्थिति) दृष्टि अमावस्या स्वरूप है, अर्धनिमीलित दृष्टि प्रतिपदा स्वरूप है और पूरी तरह खुली हुई दृष्टि पूर्णिमा स्वरूप है। इसलिए पूर्णिमा रूप दृष्टि का ही अभ्यास करना चहिए॥ ६॥

**तल्लक्ष्यं नासाग्रम् । यदा तालुमूले गाढतमो दृश्यते । तदभ्यासादखण्डमण्डलाकार-ज्योतिर्दृश्यते । तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति ॥ ७ ॥**

उस (पूर्णिमारूप दृष्टि) का लक्ष्य नासिकाग्र है। जिस समय तालुमूल में प्रगाढ़ अन्धकार के दर्शन होते हैं, उस समय अभ्यास के द्वारा अखण्ड मण्डलाकार ज्योति दिखाई देती है। वही सच्चिदानन्द ब्रह्म है॥ ७॥

**एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शाम्भवी भवति । तामेव खेचरीमाहुः ॥ ८ ॥**

इस प्रकार जब सहजानन्द में मन लीन हो जाता है, तब शाम्भवी मुद्रा (सिद्ध) होती है और उसे ही खेचरी मुद्रा कहते हैं॥ ८॥

**तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम् । ततो बुद्धिस्थैर्यम् ॥ ९ ॥**

उसके अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है, तत्पश्चात् बुद्धि स्थिर होती है॥ ९॥

**तच्चिह्नानि आदौ तारकवद्दृश्यते । ततो वज्रदर्पणम् । तत उपरि पूर्णचन्द्रमण्डलम् । ततो नवरत्न प्रभामण्डलम् । ततो मध्याह्नाकं मण्डलम् । ततो वह्निशिखामण्डलं क्रमाददृश्यते ॥**

उसके चिह्न इस प्रकार हैं- सर्वप्रथम तारा के समान दिखाई देता है, तत्पश्चात् वज्र दर्पण (अर्थात् हीरे का दर्पण) जैसा दिखाई देता है, इसके पश्चात् पूर्ण चन्द्र मण्डल दिखाई देता है, इसके बाद नवरत्न प्रभा का मण्डल दृश्यमान होता है, इसके बाद मध्याह्न का सूर्य मण्डल परिलक्षित होता है, तत्पश्चात् क्रमशः अग्निशिखा मण्डल दिखाई देता है॥ १०॥

## ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

**तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाशः स्फटिकधूम्रबिन्दुनादकलानक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसर्वन-नवरत्नादिप्रभा दृश्यन्ते । तदेव प्रणवस्वरूपम् ॥ १ ॥**

उस समय वह पश्चिमाभिमुख (आन्तरिक) प्रकाश दृष्टिगोचर होता है, जिसकी आभा धूम्र वर्णिक स्फटिकमणि तुल्य, बिन्दु (मनस्तत्त्व), नाद (बुद्धि तत्त्व), कला (महतत्त्व), नक्षत्र, खद्योत (जुगनू), दीप, नेत्र, सुर्वण और नवरत्न आदि जैसी होती है। वही प्रणव (ॐ) का स्वरूप है॥ १॥

**प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा धृतकुम्भको नासाग्रदर्शनदृढभावनया द्विकराङ्गुलिभिः षण्मुखीकरणेन प्रणवध्वनिं निशम्य मनस्तत्र लीनं भवति ॥ २ ॥**

प्राण और अपान वायु को एक करके कुम्भक धारण करे, तत्पश्चात् नासिकाग्र पर दृष्टि को एकाग्र करके दृढ़ भावना से करद्वय (दोनों हाथों) की अङ्गुलियों से षण्मुखी मुद्रा धारण करके 'प्रणव' (ॐ) नाद का श्रवण करे, इसमें मन लीन हो जाता है ॥ २ ॥

**तस्य न कर्मलेपः । रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्तव्यम् । एवंविधश्चिदादित्यस्यो-**  
**दयास्तमयाभावात्सर्वकर्मभावः ॥ ३ ॥**

ऐसा अभ्यास करने वाले को कर्म लिस नहीं करते । रवि के उदय और अस्त के समय (प्रातः-सायं) कर्म (धर्मकृत्य) सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु चिदादित्य (चैतन्य स्वरूप आदित्य) का तो उदय-अस्त होता ही नहीं, इसलिए उसे जानने (अथवा दर्शन करने) वाले के लिए कोई कर्म शेष नहीं रहते ॥ ३ ॥

**शब्दकाललयेन दिवारात्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेनोन्मन्यवस्थावशेन ब्रह्मैक्यं**  
**भवति । उन्मन्या अमनस्कं भवति ॥ ४ ॥**

शब्द और काल के लय हो जाने से मनुष्य दिवा और रात्रि से अतीत होकर सभी का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जिसके द्वारा उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है और ब्रह्म के साथ एकत्र हो जाता है । उन्मनी अवस्था से व्यक्ति अमनस्क हो जाता है ॥ ४ ॥

**तस्य निश्चिन्ता ध्यानम् । सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम् । निश्चयज्ञानमासनम् । उन्मनीभावः**  
**पाद्यम् । सदाऽमनस्कमर्घ्यम् । सदादीप्तिरपारामृतवृत्तिः स्नानम् । सर्वत्र भावना गन्धः ।**  
**दृक्स्वरूपावस्थानमक्षताः । चिदासिः पुष्पम् । चिदग्निस्वरूपं धूपः । चिदादित्यस्वरूपं दीपः ।**  
**परिपूर्णचन्द्रामृतरसस्यैकीकरणं नैवेद्यम् । निश्चलत्वं प्रदक्षिणम् । सोऽहंभावो नमस्कारः । मौनं**  
**स्तुतिः । सर्वसंतोषो विसर्जनमिति य एवं वेद ॥ ५ ॥**

निश्चिन्त अवस्था ही उसका ध्यान है । समस्त कर्मों का निराकरण (दूर करना) ही उसका आवाहन है । निश्चय ज्ञान ही उसका आसन है । उन्मन भाव (मनरहित होना) ही उसका पाद्य है । सदैव अमनस्क भाव ही अर्घ्य है । सतत दीसि और अपार अमृतवृत्ति ही उसका स्नान है । सर्वत्र ब्रह्म भावना ही गन्ध है । दर्शन के स्वरूप का अवस्थान ही अक्षत है । चैतन्य की प्राप्ति ही पुष्प है । चैतन्य अग्नि का स्वरूप ही धूप है । चैतन्य आदित्य का स्वरूप ही दीप है । परिपूर्ण चन्द्र के अमृत का एकीकरण ही नैवेद्य है । निश्चलत्व ही प्रदक्षिणा है । 'सोऽहम्' भाव ही नमस्कार है । मौन ही स्तुति है । सभी प्रकार का सन्तोष ही उसका विसर्जन है । जो इस प्रकार जानता है (वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है) ॥ ५ ॥

## ॥ तृतीयः खण्डः ॥

**एवं त्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवन्निवातस्थितदीपवदचलसंपूर्णभावाभाव-**  
**विहीनकैवल्यज्योतिर्भवति ॥ १ ॥**

इस प्रकार जब (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय स्वरूप) त्रिपुटी निरस्त (दूर) हो जाती है, तब तरंगहीन सागर के समान, वायुरहित स्थान में स्थित दीपक की तरह अचल, सम्पूर्ण भाव और अभाव से विहीन कैवल्य-ज्योति प्रकट होती है, अर्थात् मात्र कैवल्यज्योति शेष रहती है ॥ १ ॥

**जाग्रन्निद्रान्तःपरिज्ञानेन ब्रह्मविद्ववति ॥ २ ॥**

जिसे जाग्रदवस्था और निद्रावस्था में भी अन्तर्ज्ञान बना रहता है, वह ब्रह्मविद् होता है ॥ २ ॥

सुषुप्तिसमाध्योर्पनोलयाविशेषेऽपि महदस्त्युभयोर्भेदस्तमसि लीनत्वान्मुक्तिहेतुत्वाभावाच्च ॥ ३ ॥

सुषुप्ति और समाधि की स्थिति में मनोलय समान होने पर भी दोनों में महान् भेद है। सुषुप्ति में मन अज्ञान में लय हो जाता है, जिससे मुक्ति की स्थिति नहीं बनती ॥ ३ ॥

**समाधौ मृदिततमोविकारस्य तदाकाराकारिताखण्डाकारवृत्त्यात्मकसाक्षिचैतन्ये प्रपञ्चलयः संपद्यते प्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात् ॥ ४ ॥**

समाधि अवस्था में तमोविकार विनष्ट हो जाता है, जिसके कारण तदाकार और अखण्डाकार बने हुए वृत्ति रूप साक्षिचैतन्य में प्रपञ्च का विलय हो जाता है; क्योंकि प्रपञ्च मनःकल्पित होता है ॥ ४ ॥

ततो भेदाभावात् कदाचिद्विहर्गतेऽपि मिथ्यात्वभानात् । सकृद्विभातसदानन्दानुभवै-कगोचरो ब्रह्मवित्तदैव भवति ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् भेद के अभाव में समाधि से बाहर आने पर भी प्रपञ्च के मिथ्यात्व का बोध बना रहता है। एक बार सदानन्द का अनुभव हो जाने से वही प्रमुख विषय हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म को जानने वाला (ब्रह्मविद्) ब्रह्म ही हो जाता है ॥ ५ ॥

**यस्य संकल्पनाशः स्यात्स्य मुक्तिः करे स्थिता ।**

**तस्माद्वावाभावौ परित्यज्य परमात्मध्यानेन मुक्तो भवति ॥ ६ ॥**

जिसके संकल्प विनष्ट हो गये हैं, उसी के हाथ में मुक्ति है। इसलिए (वह साधक) भाव और अभाव का परित्याग करके परमात्मा का ध्यान करने से मुक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

**पुनःपुनः सर्वावस्थासु ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये दृश्यादृश्ये चोहापोहादि परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत् । य एवं वेद ॥ ७ ॥**

इस प्रकार समस्त अवस्थाओं में बारम्बार ज्ञान और ज्ञेय, ध्यान और ध्येय, लक्ष्य और अलक्ष्य, दृश्य और अदृश्य तथा ऊहापोह आदि का परित्याग करके मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है (वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है) ॥ ७ ॥

## ॥ चतुर्थः खण्डः ॥

**पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरुरीयतुरीयातीताः ॥ १ ॥**

पाँच अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत ॥ १ ॥

**जाग्रति प्रवृत्तो जीवः प्रवृत्तिमार्गसिक्तः ।**

**पापफलनरकादि मास्तु शुभकर्मफलस्वर्गमस्त्वति काङ्क्षते ॥ २ ॥**

इन पाँच अवस्थाओं में से जाग्रदवस्था में जीव प्रवृत्ति मार्ग में प्रवृत्त होता है, जिससे वह यह आकंक्षा करता है कि पाप का फल नरक मुझे न प्राप्त हो और शुभ कर्मों का फल स्वर्ग मुझे अवश्य प्राप्त हो ॥ २ ॥

**एवं स एव स्वीकृतवैराग्यात्कर्मफलजन्माऽलं ।**

**संसारबन्धनमलमिति विमुक्त्यभिमुखो निवृत्तिमार्गप्रवृत्तो भवति ॥ ३ ॥**

इस प्रकार वही जीव जब वैराग्य को स्वीकार कर लेता है, तब कर्मफल स्वरूप जन्म और संसार रूप बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का आकांक्षी होकर मुक्ति की ओर अग्रसर होता है और निवृत्ति पथगामी होता है ॥३॥

स एव संसारतारणाय गुरुमाश्रित्य कामादि त्यक्त्वा विहितकर्माचरन्साधनचतुष्टयसंपन्नो हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्तामात्रान्तर्लक्ष्यरूपमासाद्य सुषुप्त्यवस्थाया मुक्तब्रह्मा-नन्दस्मृतिं लब्ध्वा एक एवाहमद्वितीयः कंचित्कालमज्ञानवृत्त्या विस्मृतजाग्रद्वासनानुफलेन तैजसोऽस्मीति तदुभयनिवृत्त्या प्राज्ञ इदानीमस्मीत्यहमेक एव स्थानभेदादवस्थाभेदस्य परंतु नहि मदन्यदिति जातविवेकः शुद्धाद्वैतब्रह्माहमिति भिदागन्थं निरस्य स्वान्तर्विजृभितभानु-मण्डलध्यानतदाकाराकारितपरंब्रह्माकारितमुक्तिमार्गमारुदः परिपक्षो भवति ॥४॥

(तत्पश्चात्) वही जीव संसार सागर से पार होने हेतु गुरु का आश्रय लेकर, कामादि (विकारों का) परित्याग करके विहित (वेदोक्त) कर्म का आचरण करता हुआ साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से सम्पन्न होता है और हृदय कमल के मध्य एकमात्र भगवत्सत्ता को अन्तर्लक्ष्य करके एक उसी के रूप का आश्रय लेकर सुषुप्ति अवस्था से मुक्त ब्रह्मानन्द की स्मृति पाकर ऐसा विचारता है (अनुभव करता है) कि मैं एक और अद्वितीय ही हूँ; किन्तु कुछ काल पूर्व अज्ञान ग्रसित होकर आत्म स्वरूप को भूल गया था और जाग्रदवस्था में स्थित वासना के फलस्वरूप स्वप्न में मेरा यह मानना था कि 'मैं तैजस हूँ'। उसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओं से निवृत्ति हो जाने पर (सुषुप्तावस्था में) 'मैं प्राज्ञ हूँ' ऐसा मानता था; किन्तु अब 'मैं एक ही हूँ' ऐसा अनुभव होता है। स्थान भेद के कारण वे अलग-अलग अवस्थाएँ थीं; किन्तु मुझसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं था, ऐसा विवेक होने से 'मैं शुद्ध अद्वैत ब्रह्म हूँ' यह अनुभव होता है, जिसके कारण भेदभाव की समस्त वासनाएँ (आरोपित वृत्तियाँ) दूर हो जाती हैं। साधक अपने भीतर प्रकाशित तेजोमण्डल का ध्यान करने से तदाकार बनकर परब्रह्म के स्वरूप को पाकर मुक्तिपथारुदः होता है और परिपक्ष हो जाता है ॥४॥

**संकल्पादिकं मनो बन्धहेतुः । तद्वियुक्तं मनो मोक्षाय भवति ॥५॥**

संकल्प आदि से युक्त मन बन्धन का और उससे रहित मन मोक्ष का कारण होता है ॥५॥

**तद्वांश्शक्षुरादिबाह्यप्रपञ्चोपरतो विगतप्रपञ्चगन्थः सर्वजगदात्मत्वेन पश्यस्त्यक्ताहंकारो ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयन्निदं सर्वं यदयमात्पेति भावयन्कृतकृत्यो भवति ॥६॥**

उससे सम्पन्न (जीवित अवस्था में ही मोक्ष प्राप्त कर लेने वाला) साधक चक्षु आदि बाह्य प्रपञ्चों से उपरत हो जाता है। उसमें प्रपञ्चों की गन्थ तक शेष नहीं रहती। वह सम्पूर्ण जगत् को आत्म स्वरूप में देखता है और त्यक्त अहंकार होकर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा चिन्तन करता हुआ 'यह सब कुछ आत्मा ही है, ऐसी भावना करता हुआ कृतकृत्य हो जाता है' ॥६॥

## ॥ पञ्चमः खण्डः ॥

**सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्मभूतो योगी भवति । तं ब्रह्मेति स्तुवन्ति ॥१॥**

सब प्रकार से परिपूर्ण होकर वह तुरीयातीत योगी ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। 'यह ब्रह्म है,' लोग इस प्रकार उसकी स्तुति करते हैं ॥१॥

सर्वलोकस्तुतिपात्रः सर्वदेशसंचारशीलः परमात्मगगने बिन्दुं निक्षिप्य शुद्धाद्वैताजाड्य-  
सहजामनस्कयोगनिद्राखण्डानन्दपदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवति ॥ २ ॥

वह समस्त लोकों की स्तुति का पात्र बनता है, समस्त लोकों में संचार करने वाला होता है और परमात्मा रूप गगन में बिन्दु स्थापित करके (चिदाकाश में मन को विलीन करके) शुद्ध, अद्वैत, जड़तारहित, सहज और अमनस्क स्थिति रूपी योगनिद्रा में अखण्डानन्द का अनुसरण करके जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

तत्त्वानन्दसमुद्रमग्ना योगिनो भवन्ति ॥ ३ ॥

उस आनन्द के समुद्र में मग्न रहने वाले (सिद्ध) योगी कहे जाते हैं ॥ ३ ॥

तदपेक्षया इन्द्रादयः स्वल्पानन्दाः । एवं प्रासानन्दः परमयोगी भवतीत्युपनिषत् ॥ ४ ॥

उन योगियों की अपेक्षा इन्द्रांदि देवगण भी स्वल्प आनन्द प्राप्त करने वाले होते हैं। इस प्रकार परमानन्द प्राप्त करने वाला परम योगी होता है, यह (अद्भुत) रहस्य है ॥ ४ ॥

## ॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

याज्ञवल्क्यो महामुनिर्णदलपुरुषं पप्रच्छ स्वामिन्नमनस्कलक्षणमुक्तमपि विस्मृतं  
पुनस्तलक्षणं ब्रूहीति ॥ १ ॥

महामुनि याज्ञवल्क्य ने सूर्य मण्डल स्थिति पुरुष से कहा—“हे स्वामी! आपने अमनस्क स्थिति के लक्षणों के विषय में मुझे उपदेश दिया, अब वह मुझे विस्मृत हो गया है, अतः कृपा करके पुनः उसके लक्षणों को मुझे बताएँ” ॥ १ ॥

तथेति मण्डलपुरुषोऽब्रवीत् । इदममनस्कमतिरहस्यम् । यज्ञानेन कृतार्थो भवति तत्त्वित्यं  
शांभवीमुद्रान्वितम् ॥ २ ॥

वह मण्डल पुरुष बोला—बहुत अच्छा, “यह अमनस्क स्थिति अतिरहस्यमय है। इसके ज्ञान से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है और वह नित्य ही शाम्भवी मुद्रा से समन्वित होता है” ॥ २ ॥

परमात्मदृष्ट्या तत्प्रत्ययलक्ष्याणि दृष्ट्वा तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं शिवं परमाकाशं निरालम्ब-  
मद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं परंब्रह्मात्मन्येव पश्यमानो गुहाविहरणमेव  
निश्चयेन ज्ञात्वा भावाभावादिद्वन्द्वातीतः संविदितमनोन्मन्यनुभवस्तदनन्तरमखिलेन्द्रियक्षयवशा-  
दमनस्कसुखब्रह्मानन्दसमुद्रे मनः प्रवाहयोगरूपनिवातस्थितदीपवदचलं परंब्रह्म प्राप्नोति ॥ ३ ॥

परमात्म दृष्टि से उसका अनुभव करने वाले लक्षणों को देखकर सबके ईश्वर, अप्रमेय, अज, शिव (कल्याणकारी), परम आकाश, निरालम्ब, अद्वितीय, ब्रह्म, विष्णु, रुद्र आदि के एकमात्र लक्ष्यरूप सभी के कारण परम ब्रह्म को आत्मरूप में देखने वाला पुरुष हृदयगुहा में ही विहार करता हुआ निश्चय पूर्वक जानकर, भाव-अभाव आदि द्वन्द्वों से अतीत होकर, मन की उन्मनी अवस्था का अनुभव करता है। तत्पश्चात् समस्त इन्द्रियों के (इन्द्रिय जन्य प्रवृत्ति के) क्षय होने पर, अमनस्क सुख रूप ब्रह्मानन्द सागर में उसका मनः-प्रवाह बहता है, जिसके योग से वह वायुशून्य स्थल में स्थित दीपक के समान अचल परब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

ततः शुष्कवृक्षवन्मूर्च्छानिद्रामयनिःश्वासोच्छासाभावान्नष्टद्वन्द्वः सदाऽचञ्चलगात्रः परमशान्तिं स्वीकृत्य मनःप्रचारशून्यं परमात्मनि लीनं भवति ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् शुष्क वृक्षवत् मूर्च्छा और निद्रा की स्थिति में श्वासोच्छास के अभाव में सुख-दुःख आदि द्वन्द्व विनष्ट हो जाते हैं और शरीर अचञ्चल हो जाता है। ऐसी स्थिति का व्यक्ति परम शान्ति को स्वीकार कर लेता है, जिससे मन प्रचार-शून्य बन जाता है तथा परमात्मा में लीन हो जाता है ॥ ४ ॥

पयःस्नावानन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियवर्गे परिनष्टे मनोनाशो भवति तदेवामनस्कम् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार दुग्ध दोहन कर लेने के उपरान्त वह गाय के स्तनों में नहीं रहता, उसी प्रकार समस्त इन्द्रिय वर्ग के विनष्ट हो जाने पर मन का भी विनाश हो जाता है—यही अमनस्क स्थिति है ॥ ५ ॥

तदनु नित्यशुद्धः परमात्माहमेवेति तत्त्वमसीत्युपदेशेन त्वमेवाहमहमेव त्वमिति तारकयोगमार्गेणाखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति ॥ ६ ॥

इसके उपरान्त ‘मैं ही नित्य शुद्ध परमात्मा हूँ’ इस प्रकार ‘तत्त्वमसि’ उपदेश प्राप्त हो जाने से ‘तुम ही मैं हूँ’, ‘मैं ही तुम हो’ इस तारक योग मार्ग से अखण्डानन्द पाकर(साधक) पूर्णरूपेण कृतकृत्य हो जाता है ॥ ६ ॥

## ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

परिपूर्णपराकाशमग्रमनाः प्रासोन्मन्यवस्थः संन्यस्तसर्वेन्द्रियवर्गोऽनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपक्षकैवल्यफलोऽखण्डानन्दनिरस्तसर्वक्लेशकश्मलो ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति ॥ १ ॥

जिसका मन परमाकाश में पूर्णरूपेण मग्न हो गया हो, जिसे उन्मनी अवस्था प्राप्त हो गई हो एवं जो समस्त इन्द्रिय वर्ग से वियुक्त हो गया हो, अनेक जन्मों से प्राप्त हुए पुण्यपुञ्ज द्वारा उसका कैवल्य स्वरूप फल परिपक्ष हो जाता है। अखण्डानन्द प्राप्त कर लेने से उसके समस्त क्लेश रूप पाप विनष्ट हो जाते हैं। तदुपरान्त ‘मैं ब्रह्म हूँ’ इस भाव से वह निरन्तर अभिभूत रहता हुआ कृतकृत्य हो जाता है ॥ १ ॥

त्वमेवाहं न भेदोऽस्ति पूर्णत्वात्परमात्मनः । इत्युच्चरन्त्समालिङ्ग्य शिष्यं ज्ञसिमनीनयत् ॥ २ ॥

परमात्मा पूर्ण है, इसलिए ‘तू ही मैं हूँ’ ऐसा उच्चारण करते हुए गुरु (मण्डल पुरुष) ने शिष्य (याज्ञवल्क्य) का आलिङ्गन (भेंट) करते हुए उसे इस ज्ञान का उपदेश किया था ॥ २ ॥

## ॥ चतुर्थ ब्राह्मणम् ॥

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ ह याज्ञवल्क्यो मण्डलपुरुषं पप्रच्छ व्योमपञ्चकलक्षणं विस्तरेणानुब्रूहीति ॥ १ ॥

इसके बाद ऋषि याज्ञवल्क्य ने मण्डल पुरुष (सूर्यमण्डल स्थित पुरुष) से प्रश्न किया कि अब आप मुझे ‘आकाश पञ्चक’ का लक्षण सविस्तार बताएँ ॥ १ ॥

स होवाचाकाशं पराकाशं महाकाशं । सूर्याकाशं परमाकाशमिति पञ्च भवन्ति ॥ २ ॥

उन्होंने कहा कि आकाश के पाँच प्रकार हैं—आकाश, पराकाश, महाकाश, सूर्याकाश और परमाकाश ॥ २ ॥

स बाह्याभ्यन्तरमन्थकारमयमाकाशम् । स बाह्यस्याभ्यन्तरे कालानलसदृशं पराकाशम् ।  
सबाह्याभ्यन्तरेऽपरिमितद्युतिनिभं तत्वं महाकाशम् । सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्यकाशम् ।  
अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम् ॥ ३ ॥

जो बाहर और भीतर से अन्धकारमय है, वह आकाश है। जो बाहर और भीतर से कालाग्नि सदृश है, वह पराकाश है। जो बाहर और अन्दर से अपरिमित कान्ति के समान है, वह तत्व महाकाश है। जो बाहर और भीतर से सूर्य सदृश है, वह सूर्यकाश है तथा जो अनिर्वचनीय ज्योति वाला सर्वव्यापक और अतिशय आनन्द के लक्षण से युक्त है, वह परमाकाश है ॥ ३ ॥

एवं तत्त्वलक्ष्यदर्शनात्तद्वूपे भवति ॥ ४ ॥

इस प्रकार मनुष्य जिस-जिस लक्ष्य का दर्शन करता है, वह उसी-उसी की तरह हो जाता है ॥ ४ ॥  
नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् । सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत् ॥ ५ ॥

जो नवचक्र (षडचक्र तथा तालु, आकाश एवं भूचक्र), षडआधार (मूलाधार आदि षडआधार), त्रिलक्ष्य (अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य एवं मध्यलक्ष्य) और व्योम पञ्चक (आकाश, पराकाश, महाकाश, सूर्यकाश और परमाकाश) को सम्यक् प्रकार से नहीं जानता है, वह नाममात्र का योगी है (अर्थात् योगी को इन सभी का ज्ञान होना आवश्यक है) ॥ ५ ॥

## ॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

सविषयं मनो बन्धाय निर्विषयं मुक्तये भवति ॥ १ ॥

सविषय मन बन्धन का और निर्विषय मन मुक्ति का कारण होता है ॥ १ ॥

अतः सर्वं जगच्चित्तगोचरम् । तदेव चित्तं निराश्रयं मनोन्मन्यवस्थापरिपक्षं लययोगयं भवति ॥

अतः समस्त जगत् चित्तगोचर है। वही चित्त यदि निराश्रय हो जाए, तो मन उन्मनी अवस्था से परिपक्ष होकर (ईश्वर में) लय होने योग्य बन जाता है ॥ २ ॥

तल्लयं परिपूर्णं मयि समभ्यसेत् । मनोलयकारणमहमेव ॥ ३ ॥

इस लय का परिपूर्ण 'मैं' में अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि मनोलय का कारण 'मैं' ही हूँ ॥ ३ ॥

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः । ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिज्योतिरन्तर्गतं मनः ॥ ४ ॥

अनाहत शब्द और उस शब्द के अन्दर जो ध्वनि होती है, उस ध्वनि के अन्तर्गत ज्योति रहती है और ज्योति के अन्तर्गत मन होता है ॥ ४ ॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत् । तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ५ ॥

जो मन त्रिजगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार रूप कर्म सम्पादन करता है, वही मन जिसमें विलय होता है, वह विष्णु का परम पद है ॥ ५ ॥

तल्लयाच्छुद्धाद्वैतसिद्धिर्भेदाभावात् । एतदेव परमतत्त्वम् ॥ ६ ॥

विष्णु के परमपद में लय होने से शुद्ध अद्वैत तत्त्व की सिद्धि होती है; क्योंकि उसमें भेद का अभाव रहता है। यही परमतत्त्व है ॥ ६ ॥

स तज्जो बालोन्मत्तपिशाचवज्जडवृत्त्या लोकमाचरेत् ॥ ७ ॥

इस (परमतत्त्व) को जानने वाला बालकवत्, उन्मत्तवत् या पिशाचवत् जड़ वृत्ति से लोक (संसार) में आचरण करता है ॥ ७ ॥

एवममनस्काभ्यांसेनैव नित्यतृसिरल्पमूत्रपुरीषमितभोजनदृढाङ्गाजाङ्गनिद्रादग्वा-  
युचलनाभावब्रह्मदर्शनाज्ञातसुखस्वरूपसिद्धिर्भवति ॥ ८ ॥

इस प्रकार अमनस्क स्थिति के अभ्यास से नित्य तृप्ति का अनुभव होने लगता है। मल-मूत्र की मात्रा भी अल्प हो जाती है तथा स्वल्प आहार से काम चल जाता है। अङ्गों में दृढ़ता आ जाती है, शरीर में जड़ता नहीं रहती, निद्रा, नेत्र (आँख झपकने), वायु (श्वास) की (चंचल) गति समाप्त हो जाती है, (जिसके फलस्वरूप) ब्रह्म दर्शन तथा अज्ञात सुखमय स्वरूप की सिद्धि हो जाती है ॥ ८ ॥

एवं चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणोऽसौ संन्यासी परमहंस अवधूतो भवति ।  
तद्वर्णेन सकलं जगत्पवित्रं भवति । तत्सेवापरोऽज्ञोऽपि मुक्तो भवति । तत्कुलमेकोत्तरशतं  
तारयति । तन्मातृपितृजायापत्यवर्गं च मुक्तं भवतीत्युपनिषत् ॥ ९ ॥

इस प्रकार दीर्घ काल तक समाधि की स्थिति के अभ्यास से उत्पन्न ब्रह्मामृत पान करने में परायण रहता हुआ संन्यासी अवधूत हो जाता है। उसके दर्शन से सम्पूर्ण जगत् पवित्र हो जाता है। उसकी सेवा में परायण रहने वाला अज्ञानी भी बन्धन से मुक्त हो जाता है। वह अपने कुल की एक सौ एक पीढ़ियाँ तार देता है। उसके माता-पिता, पत्नी और सन्तति वर्ग भी मुक्त हो जाते हैं। ऐसा यह उपनिषद् है ॥ ९ ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति मण्डलब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ महावाक्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल १२ मन्त्र हैं, जिसमें भगवान् ब्रह्मा ने देवों के समक्ष उस रहस्यज्ञान को प्रकट किया है, जो नितान्त गोपनीय है। इसे केवल उन्हीं जिज्ञासुओं के समक्ष प्रकट करना चाहिए, जो सात्त्विक गुणों से ओत-प्रोत, अन्तर्मुखी तथा गुरुजनों की सेवा में संलग्न रहते हों।

इस उपनिषद् का प्रमुख प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व है, जो अविद्यारूपी 'तम' से आच्छन्न है। इस ज्ञान के उदय होने के साथ ही आत्मतत्त्व का वास्तविक रूप-आदित्य वर्ण सदृश प्रकट हो जाता है और परमअर्क-(आदित्य), परम ज्योति, परमशिव, परम शुक्र, परम ब्रह्मरूप का बोध हो जाता है। जिससे परम आनन्द की अनुभूति-अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है। अन्त में उपनिषद् की महिमा बताते हुए इस रहस्यात्मक ज्ञान का उपसंहार किया गया है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिरउपनिषद्)

अथ होवाच भगवान्ब्रह्मापरोक्षानुभवपरोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ गुह्यादुह्यतर मेषान प्राकृतायोपदेष्टव्या । सात्त्विकायान्तर्मुखाय परिशुश्रूषवे ॥ २ ॥

एक समय भगवान् ब्रह्मा जी ने (समस्त देवताओं के समक्ष) कहा कि (हे देवो!) अपरोक्षानुभव (इन्द्रियातीत अनुभूति) परक उपनिषद् की व्याख्या करते हैं। इस उपनिषद् को सामान्य मनुष्यों के समक्ष प्रकट नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह गूढ़ से गूढ़तर (गोपनीय) है; किन्तु सात्त्विक गुणों से ओत-प्रोत, अन्तर्मुखी तथा अपने गुरुजनों की सेवादि में संलग्न मनुष्यों को ही इस उपनिषद् का उपदेश करना चाहिए। अथ संसृतिबन्धमोक्षयोर्विद्याविद्ये चक्षुषी उपसंहत्य विज्ञायाविद्यालोकाण्डस्तमोदूक् ॥ ३ ॥

तदनन्तर संसार के बन्धन और मोक्ष की कारणभूता विद्या-अविद्या रूपी नेत्रों को बन्द करके (अहं ब्रह्मस्मि की अनुभूति करता हुआ) साधक (सम्यक् ज्ञानानुभूति के साथ ही) अविद्या रूप संसार के प्रति तमोमयी दृष्टि-अज्ञानदृष्टि से मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

तमो हि शारीरप्रपञ्चमाब्रह्मस्थावरान्तमनन्ताखिलाजाण्डभूतम् ।

निखिलनिगमोदितसकामकर्मव्यवहारो लोकः ॥ ४ ॥

यह आत्मतत्त्व को आच्छादित करने वाला अज्ञानान्धकार रूपी तम है, अविद्या है, यही चर और अचर जगत् का इस देह से लेकर ब्रह्मपर्यन्त अखण्ड मण्डल का कारण स्वरूप है। इस तम से ही इन सभी वस्तुओं की ब्रह्म से भिन्न एक अलग सत्ता का ज्ञान प्राप्त होता है। वेदों में जो धर्म-कर्तव्य का निर्देश है, उसका प्राकृत्य करने वाला कारण स्वरूप भी वह तमरूपी अविद्या ही है ॥ ४ ॥

नैषोऽन्धकारोऽयमात्मा । विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राहां नापरम् ॥ ५ ॥

जब तक अपनी आत्मा के सन्दर्भ में ऐसा ज्ञान न हो जाए कि यह आत्मा अन्धकार रूप नहीं है, अपितु प्रकाश रूप ब्रह्म से प्रकट होने के कारण स्वयं प्रकाशस्वरूप है, तब तक पुरुष को सद्ज्ञान रूपी विद्या का सतत अभ्यास करते रहना चाहिए। विद्या ही अज्ञानरूपी अविद्या से भिन्न, चिद् आदित्यस्वरूप, स्वप्रकाशित,

ज्योतिरूप है। उसका मण्डल परम ज्योति से सम्पन्न है, वही ग्रहणीय है; क्योंकि वह ब्रह्मात्र पर ही आश्रित है, स्वयं ब्रह्म का स्वरूप ही है, अन्य और कुछ भी नहीं है॥५॥

**असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम् । प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्मा-विर्भवति ॥ ६ ॥**

यह (आत्मा) आदित्यरूप ब्रह्म श्वास-प्रश्वास रूप अजपाजप से युक्त हर एक देह में प्रतिष्ठित रहने वाला 'हंस' नाम से युक्त परमात्मा है। इसी हंसरूपी परमात्मा का अंश अपने आपको मानकर और प्राण-अपान, श्वास-प्रश्वास का ज्ञान प्राप्त करके चिरकाल तक साधना करने से इस विद्या द्वारा समष्टि, व्यष्टि एवं तदैक्य रूप आत्म-ब्रह्म में रत रहने पर ही सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप परब्रह्म का प्रादुर्भाव होता है॥६॥

**सहस्रभानुमच्छुरिता पूरितत्वादलीया पारावारपूर इव । नैषा समाधिः । नैषा योगसिद्धिः । नैषा मनोलयः । ब्रह्मैक्यं तत् ॥ ७ ॥ आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे । सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः । नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते ॥ ८ ॥**

वह श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान वृत्ति सहस्रों सूर्यों के प्रकाश से परिपूर्ण, निस्तरंग (तरंगरहित) समुद्र की जलराशि के सदृश, ब्रह्मभाव रस से युक्त एवं सदैव रहने वाली अर्थात् लय से रहित है। ऐसी स्थिति न तो समाधि की है और न ही योगसिद्धि की ही है; न ही मनोलय है; अपितु वह जीव-ब्रह्म की एकता ही है। वह ब्रह्म (आत्म तत्त्व) अज्ञान से परे आदित्य (शुक्ल) वर्ण है। धीर (विद्वान्) पुरुष नाम और रूप (की नश्वरता) पर विचार करके जिस परात्पर ब्रह्म की अनुभूति करते हैं, वे तद्रूप (ब्रह्मरूप) ही हो जाते हैं॥७-८॥

**धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार । शक्रः प्रविद्वान्प्रदिशश्वतस्तः तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥ ९ ॥**

इस स्थिति (स्वरूप) को ब्रह्माजी ने सबसे पहले कहा और ऐसा ही सर्वातिशायी, देवों में अनुपम, अतिश्रेष्ठ देवराज इन्द्र ने भी कहा है। ऐसे अविनाशी उस ब्रह्म को इस प्रकार से जानने वाला विद्वान् पुरुष परमात्मा के रूप को (अमृतत्व को) प्राप्त कर लेता है, इससे भिन्न अन्य कोई भी दूसरा मार्ग मुक्ति के लिए नहीं है॥९॥

**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्ते । यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १० ॥**

पुरातन कालीन श्रेष्ठ धर्मावलम्बी इन्द्रादि देवों ने ज्ञान-यज्ञ द्वारा यज्ञरूप विराट् का यजन किया। वे ही यज्ञीय जीवनयापन करने वाले (याजक) प्राचीन काल से सिद्ध-साध्यगणों एवं देवों के निवास स्थल महिमामणिडत देवलोक को प्राप्त करते हुए प्रकाशित हो रहे हैं॥१०॥

**सोऽहमर्कः परं ज्योतिरक्ज्योतिरहं शिवः ।**

**आत्मज्योतिरहं शुक्रः सर्वज्योतिरसावदोम् ॥ ११ ॥**

मैं ही वह चिद् आदित्य हूँ, मैं ही आदित्यरूप वह परम ज्योति हूँ, मैं ही वह शिव (कल्याणकारी तत्त्व) हूँ। मैं ही वह श्रेष्ठ आत्म-ज्योति हूँ। सभी को प्रकाश प्रदान करने वाला शुक्र(ब्रह्म) मैं ही हूँ तथा उस (परमसत्ता) से कभी भी अलग नहीं रहता हूँ॥११॥

य एतदथर्वशिरोऽधीते । प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । तत्सायं प्रातः प्रयुज्जानः पापोऽपापो भवति । मध्यन्दिनमादित्याभिमुखो-  
ऽधीयानः पञ्चमहापातकोपपातकात्प्रमुच्यते । सर्ववेदपारायणपुण्यं लभते । श्रीमहाविष्णुसा-  
युज्यमवाप्नोतीत्युपनिषत् ॥ १२ ॥

इस उपनिषद् को प्रातःकाल पाठ करने से रात्रि में हुए पापों से मुक्ति मिल जाती है तथा सायंकालीन वेला में इसका पाठ करने वाला (मनुष्य) दिन में हुए पापों से मुक्त हो जाता है । प्रातः—सायं (दोनों सन्ध्याओं) में पाठ करने से व्यक्ति को बड़े से बड़े पाप से भी मुक्ति मिल जाती है । मध्याह्न कालीन वेला में सूर्य के समक्ष इस उपनिषद् का पाठ करने वाला मनुष्य पाँच महापातक (ब्रह्महत्या, परस्त्रीगमन, सुरापान, द्यूतक्रीड़ा और मांसादि भक्षण) तथा अन्य और दूसरे जघन्य पापों से भी मुक्त हो जाता है । वह चारों वेदों के पारायण का पुण्य-फल प्राप्त करता हुआ भगवान् विष्णु के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति महावाक्योपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ मैत्रेयुपनिषद् ॥

यह सामवेदीय उपनिषद् है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। राजा बृहद्रथ को अपने शरीर के नाशवान् होने का बोध होने पर उन्होंने अपने ज्येष्ठपुत्र को राजा बना दिया और आत्मज्ञान की प्राप्ति के उद्देश्य से घोर तप करने के लिए वन चले गये। जहाँ उनके उग्रतप से प्रसन्न होकर महातेजस्वी शाकायन्य मुनि पधारे और वर माँगने को कहा। आत्मतत्त्व का वर माँगने वाले राजा से मुनि का लम्बा कथोपकथन चला, जिसमें पहले शरीर की नश्वरता और उसके वीभत्स स्वरूप का उल्लेख है और बाद में आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय पर प्रकाश डाला गया है। इतना सब प्रथम अध्याय में है।

द्वितीय में भगवान् मैत्रेय और कैलासपति महादेव का संवाद वर्णित है, जिसमें सर्वप्रथम महादेव शिव ने ज्ञान, ध्यान, स्नान आदि के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट किया है और बाद में संन्यास द्वारा मुक्ति प्राप्ति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया।

तृतीय अध्याय में विशुद्ध आत्मतत्त्व की अनुभूति का विस्तृत विवेचन करते हुए उपनिषद् की महिमा के वर्णन के साथ समापन किया गया है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

ॐ बृहद्रथो वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य मुनेरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद्धगवाञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन्नाहमात्मवित्त्वं तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीत्येतद्वत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान्कामा-न्वृणीष्वेति शाकायन्यस्य चरणावभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद् ॥ १ ॥

बृहद्रथ नामक राजा को यह अनुभव हुआ कि यह शरीर नाशवान् है। ऐसी अनुभूति होने पर उन्हें वैराग्य हो गया। इस कारण वह अपने बड़े पुत्र को राज्य देकर तपस्या करने वन को चले गये। वहाँ उस राजा ने उग्र तपश्चर्या की। वह सूर्य के समक्ष अपनी दृष्टि स्थिर करके तथा हाथ ऊपर करके खड़े रहे। एक सहस्र वर्ष पर्यन्त तपस्या के फल स्वरूप एक बार निर्धूम अग्नि के सदृश तेजस्वी शाकायन्य नामक आत्मवेत्ता महामुनि उनके समीप आये। उन्होंने राजा बृहद्रथ से कहा—‘उठो-उठो! वर माँगो।’ तदनन्तर ऐसा सुनकर एवं देखकर राजा ने उन्हें नमन करते हुए कहा—हे भगवन्! मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ। आप तत्त्वज्ञाता हैं, ऐसा हमने सुना है। अतः आप मुझे ‘तत्त्व’ का उपदेश करने की कृपा करें। इस पर महामुनि शाकायन्य ने इस विषय को अति कठिन बताकर अन्य कोई वर माँगने के लिए कहा। ऐसा सुनकर बृहद्रथ राजा ने शाकायन्य मुनि के चरणों का स्पर्श करते हुए कहा ॥ १ ॥

अथ किमेतर्वान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणां सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरवाश्रितस्यासकृदुपावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमहसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ २ ॥

बड़े-बड़े समुद्र शुष्क पड़ जाते हैं, पर्वत शिखर टूट-फूट जाते हैं, ध्रुव भी अपने स्थान से चलायमान हो जाते हैं, वृक्ष गिर जाते हैं, पृथ्वी ढूब जाती है, देव भी (सदैव स्वर्ग में) स्थित नहीं रह पाते, तो फिर ऐसे नाशवान् संसार के विषय-भोगों से क्या लाभ? विषयों में ढूबे हुए प्राणियों को बार-बार जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करना पड़ता है। इसलिए हे मुनि प्रवर! अँधेरे कुएँ में मेंढक की भाँति पड़े हुए मेरा उद्धार करने में आप ही समर्थ हैं। हे भगवन्! इस संसार में मुझे शरण प्रदान करने वाले आप ही हैं॥२॥

**भगवञ्छरीरमिदं मैथुनादेवोद्धूतं संविदपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्कान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिसं चर्मणावबद्धं विष्मूत्रवातपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णमेतादृशे शरीरे वर्तमानस्य भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥३॥**

हे भगवन्! स्त्री-पुरुष जन्य यह शरीर यदि ज्ञान रहित हो, तो इसे नरक ही समझना चाहिए; क्योंकि यह मूत्र के द्वार से बाहर निःसृत हुआ है, अस्थियों के द्वारा निर्मित है, मांस द्वारा लेपन किया गया है, चमड़े के द्वारा मढ़ा गया है एवं विष्ठा-मूत्र-वात-पित-कफ-मज्जा-मेद (चर्बी) तथा अन्य कई तरह के मलों से भरा हुआ है। इस प्रकार के (बीभत्स) शरीर वाले मुझको शरण प्रदान करने में आप ही समर्थ हैं॥३॥

**अथ भगवञ्छकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानं महाराज बृहद्रथेक्षवाकुवंशध्वजशीर्षात्मज्ञः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतोऽसीत्यं खल्वात्मा ते कतमो भगवन्वर्ण्य इति तं होवाच ॥४॥**

ऐसा कहे जाने पर भगवान् शाकायन्य मुनि ने अति प्रसन्न होकर राजा से कहा—‘हे महाराज बृहद्रथ! तुम इक्षवाकु वंशीय श्रेष्ठ पुरुष हो, आत्मज्ञ हो, कृतकृत्य हो, मरुत् नाम से प्रख्यात हो, यही तुम्हारी आत्मा है।’ तदनन्तर राजा बृहद्रथ ने कहा—‘हे भगवन्! आत्मा (का स्वरूप) क्या है? इस आत्मतत्त्व का वर्णन करने की कृपा करें? यह सुनकर मुनि ने कहा—॥४॥

**शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः । येषां सक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम् ॥५॥**

शब्द, स्पर्शादि विषय अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं तथा उसमें आसक्त हुए जीवात्मा को परम (श्रेष्ठ) पद का स्वरूप स्मृति में नहीं आता॥५॥

**तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः । मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥६॥**

तप के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान के वश में होने से मन वशीभूत होता है, मन वश में होने से आत्मा की प्राप्ति होती है और आत्मा के प्राप्त हो जाने पर इस नश्वर संसार से मुक्ति मिल जाती है॥६॥ यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाप्यति । तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाप्यति ॥७॥

जैसे ईंधन (लकड़ी) के समाप्त हो जाने पर अग्नि स्वयमेव बुझ जाती है, वैसे ही वृत्तियों के नष्ट होने पर चित्त अपने कारण रूप आत्मा में शान्त रूप हो जाता है॥७॥

**स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः । इन्द्रियार्थविमूढस्यानुताः कर्मवशानुगाः ॥८॥**

अपने मूल कारण में शान्त एवं सत्य की ओर उन्मुख हुए मन को, इन्द्रियों के विषय-सम्बन्धी मूढ़ता (आसक्ति) के दूर होते ही, कर्मों के वशीभूत ये विषय झूठे (असत्य) मालूम होते हैं॥८॥

**चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् । यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥९॥**

चित्त ही संसार है, अतः प्रयत्नपूर्वक उस (चित्त) का शोधन करना चाहिए। जिस प्रकार का जिसका चित्त होगा, उसकी उसी प्रकार की गति होती है, यह एक गूढ़ सनातन सिद्धान्त है॥९॥

**चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् । प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्रुते ॥१०॥**

चित्त के शान्त होने पर शुभाशुभ कर्मों का शमन हो जाता है तथा शान्त बना मनुष्य, जब-जब आत्मा में लीन होता है, तब-तब उसे अक्षय एवं असीम आनन्द की प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

**समासकं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरम् । यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ११ ॥**

मनुष्यों का चित्त जितना बाह्य विषय-भोगों में आसक्त रहता है, उतना यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाए, तो फिर बन्धनों से कौन मुक्त न हो जाए? (अर्थात् सभी मुक्त हो जाएँ) ॥ ११ ॥

**हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत्परमेश्वरम् । साक्षिणं बुद्धिवृत्तस्य परमप्रेमगोचरम् ॥ १२ ॥**

हृदय कमल के मध्य, बुद्धि के समस्त कर्मों के साक्षी रूप एवं परम-अनुपम प्रेम के विषयभूत परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥ १२ ॥

**अगोचरं मनोवाचामवधूताधिसंप्लवम् । सत्तामात्रप्रकाशैकप्रकाशं भावनातिगम् ॥ १३ ॥**

यह अविनाशी परमात्मा मन एवं वाणी से नहीं जाना जा सकता। यह आदि तथा अन्त से रहित है। यह एक मात्र सत् रूपी प्रकाश से सतत प्रकाशित होता है और कल्पनातीत है ॥ १३ ॥

**अहेयमनुपादेयमसामान्यविशेषणम् । ध्रुवं स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तपस्ततम् । निर्विकल्पं निराभासं निर्वाणमयसंविदम् ॥ १४ ॥**

उस परमात्म तत्त्व को स्वीकार करने एवं छोड़ने के लिए सामान्य भाव की अथवा विशेष भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह परमात्मा तो शान्त, स्थिर एवं गम्भीर है। वह प्रकाश युक्त भी नहीं है और अन्धकार रूप में फैला हुआ भी नहीं है; बल्कि संकल्परहित, आभासरहित एवं मुक्त-चैतन्य रूप है ॥ १४ ॥

**नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः संविभुश्चाद्वितीयः ।**

**आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ॥ १५ ॥**

वह परमात्मा नित्य, शुद्ध, ज्ञान स्वरूप, मुक्त स्वभाव, सत्यरूप, सूक्ष्म, सर्वत्र व्यापक और अद्वितीय है। इस परमानन्द सागर एवं प्रत्येक स्वरूप का धारण करने वाला मैं ही हूँ, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ १५ ॥

**आनन्दमन्तर्निंजमाश्रयं तमाशापिशाचीमवमानयन्तम् ।**

**आलोकयन्तं जगदिन्द्रजालमापत्कथं मां प्रविशेदसङ्घम् ॥ १६ ॥**

अन्तःकरण में प्राप्त होने वाले आनन्द के आश्रित रहने वाली आशारूपी पिशाचिनी को दूर धकेलने वाले, सम्पूर्ण जगत् को मदारी के खेल की भाँति देखने वाले एवं असंग (आसक्ति रहित) रहने वाले (ऐसे) मेरे अन्तःकरण में दुःखों का प्रवेश कहाँ से हो सकता है? ॥ १६ ॥

**वर्णाश्रिमाचारयुता विमूढः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते ।**

**वर्णादिधर्म हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृपाः पुरुषा भवन्ति ॥ १७ ॥**

वर्ण एवं आश्रम धर्म का पालन करने वाले अज्ञानी जन ही अपने कर्मों का फल भोगते हैं; लेकिन वर्ण आदि के धर्मों को त्यागकर आत्मा में ही स्थिर रहने वाले मनुष्य अन्तः के आनन्द से ही पूर्ण सन्तुष्ट रहते हैं ॥

**वर्णाश्रमं सावयवं स्वरूपमाद्यन्तयुक्तं ह्यतिकृच्छ्रमात्रम् ।**

**पुत्रादिदेहेष्वभिमानशून्यं भूत्वा वसेत्सौख्यतमे ह्यनन्त इति ॥ १८ ॥**

वर्ण एवं आश्रम के धर्म तथा वैसे ही अंग-अवयवों से युक्त यह शरीर-ये सभी आदि-अन्त वाले होने के कारण अत्यन्त कष्टप्रद ही हैं। अतः पुत्र आदि के शरीरों पर मोह न रखते हुए परमानन्द रूप अनन्त में प्रतिष्ठित रहना चाहिए ॥ १८ ॥

## ॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

**अथ भगवान्मैत्रेयः** कैलासं जगाम तं गत्वोवाच भो भगवन्परमतत्त्वरहस्यमनुब्रूहीति ।  
**स होवाच महादेवः ।** देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलःशिवः । त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहं-  
**भावेन पूजयेत् ॥ १ ॥**

एक बार भगवान् मैत्रेय कैलास पर्वत पर गये । वहाँ जाकर महादेव जी से उन्होंने कहा—‘हे भगवन् !  
मुझे परम तत्त्व का रहस्य बताने की कृपा करें ।’ महादेव जी ने कहा—‘शरीर देवालय है तथा उसमें रहने  
वाला जीव ही केवल शिव-परमात्मा है ।’ अतः अज्ञान रूप निर्माल्य को (पुरानी (बासी) माला की तरह से)  
छोड़ देना चाहिए तथा परमात्मा में ही हूँ ऐसा समझकर ही उसकी पूजा करनी चाहिए ॥ १ ॥

**अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।** स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥२ ॥  
जीव तथा ब्रह्म एक है, ऐसा मानना ही ज्ञान है और मन को विषयों से अलग रखना ही ध्यान है, मन के मैल को  
छुड़ाना ही स्नान तथा इन्द्रियों को वश में रखना ही पवित्रता है ॥ २ ॥

**ब्रह्ममृतं पिबेद्दैक्षमाचरेद्देहरक्षणे ।** वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ।  
**इत्येवमाचरेद्धीमान्स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥**

ब्रह्मरूपी अमृत का पान करना, शरीर रक्षा के उद्देश्य से ही भिक्षा माँगना, स्वयं अकेला रहकर एकान्त  
में निवास करना, इस प्रकार से जीवनयापन करता हुआ ज्ञानवान् मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

**जातं मृतमिदं देहं मातापितृमलात्मकम् ।** सुखदुःखालयामेध्यं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ४ ॥

माता-पिता के मलरूप (शुक्रशोणित) से उत्पन्न, जन्म-मृत्यु वाले, सुख-दुःख के भण्डार-रूप एवं  
अपवित्र इस शरीर को स्पर्श करने के पश्चात् स्नान किया जाता है ॥ ४ ॥

**धातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमधुवम् ।** विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ५ ॥

सात धातुओं से निर्मित, महारोग से युक्त, पाप के घर की भाँति, सतत चलायमान (अस्थिर), विकारों  
से भेरे हुए इस शरीर को स्पर्श करने के उपरान्त स्नान अवश्य करना चाहिए ॥ ५ ॥

**नवद्वारमलस्नावं सदा काले स्वभावजम् ।** दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ६ ॥

आँख, कान आदि नौ द्वारों से युक्त इस शरीर से सदा स्वाभाविक रीति से हर समय मल-स्फवित होता  
(निकलता) रहता है तथा इस मल की दुर्गन्ध से यह शरीर हमेशा परिपूर्ण रहता है, ऐसे इस दुर्गन्धयुक्त,  
मलिन शरीर का स्पर्श करने के बाद स्नान अवश्य करना चाहिए ॥ ६ ॥

**मातृसूतकसंबन्धं सूतके सह जायते ।** मृतसूतकजं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ७ ॥

माता के सूतक से सम्बन्धित होने से मनुष्य के साथ ही सूतक भी जन्म ले लेता है तथा मरण काल का  
सूतक भी इस देह के साथ ही लगा रहता है । अतः शरीर का स्पर्श होने पर स्नान अवश्य करना चाहिए ॥ ७ ॥

**अहंममेति विष्णूत्रलेपगन्धादिमोचनम् ।** शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ॥ ८ ॥

मल, मूत्रादि दुर्गन्धयुक्त शरीर की शुद्धि तो मिट्टी एवं जल आदि से होती है; लेकिन वह सब तो  
लौकिक शुद्धि है । वास्तविक पवित्रता तो ‘मैं और मेरा’ का परित्याग करने से ही होती है ॥ ८ ॥

**चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशनम् ।** ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनाच्छौचमुच्यते ॥ ९ ॥

पवित्रता चित्त का शोधन करती है और वासनाओं को नष्ट करती है; परन्तु ज्ञानरूपी मिट्टी और वैराग्य  
रूपी जल से प्रक्षालन के द्वारा जो पवित्रता होती है, वही वास्तविक पवित्रता है ॥ ९ ॥

अद्वैतभावना भेष्मभक्षयं द्वैतभावनम् । गुरुशास्त्रोक्तभावेन भिक्षोर्भेदः विधीयते ॥ १० ॥

अद्वैत की भावना ही वास्तव में सच्ची भिक्षावृत्ति है एवं द्वैत की भावना ही अभक्ष्य वस्तु है । भिक्षुक को गुरु तथा शास्त्र के आदेशानुसार भिक्षा माँगनी चाहिए ॥ १० ॥

विद्वान्स्वदेशमुत्सृज्य संन्यासानन्तरं स्वतः । कारागारविनिर्मुक्तचोरवदूरतो वसेत् ॥ ११ ॥

जिस तरह से चोर कैदखाने से छूटकर दूर जाकर निवास करता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को संन्यास ग्रहण कर अपने देश से दूर निवास के लिए चले जाना चाहिए ॥ ११ ॥

अहंकारसुतं वित्तभ्रातरं मोहमन्दिरम् । आशापत्नीं त्यजेद्यावत्तावन्मुक्तो न संशयः ॥ १२ ॥

अहंकार रूपी पुत्र का, वित्त (धन) रूपी भाई का, मोहरूपी घर का तथा आशा रूपी पत्नी का परित्याग कर देने वाला शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ १२ ॥

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः । सूतकद्वयसंग्रासौ कथं संध्यामुपास्महे ॥ १३ ॥

मोहरूपी माँ मृत्यु को प्राप्त हो गयी और ज्ञानरूपी पुत्र उत्पन्न हो गया है, इस कारण मरण और जन्म के दो सूतक लगे हुए हैं, तो फिर सन्ध्या-वन्दन आदि कार्य किस प्रकार किये जा सकते हैं ? ॥ १३ ॥

हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति । नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपास्महे ॥ १४ ॥

हृदयरूपी आकाश में चैतन्य रूप सूर्य सदैव प्रकाशित रहता है और फिर वह न अस्त होता है न उदय ही । तब फिर सन्ध्या किस प्रकार (कब) करे ? ॥ १४ ॥

एकमेवाद्वितीयं यदगुरोर्वाक्येन निश्चितम् । एतदेकान्तमित्युक्तं न मठो न वनान्तरम् ॥ १५ ॥

यहाँ पर सभी कुछ एक ही है, दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसा गुरु के उपदेश द्वारा निश्चय हो गया है । यह भावना ही एकान्त स्वरूप है, मठ अथवा वन का मध्य भाग एकान्त नहीं है ॥ १५ ॥

असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम् । न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात् ॥ १६ ॥

जो मनुष्य संशयरहित हैं, वे ही मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं तथा जिन लोगों को संशय है, वे अनेक जन्मों के अन्त में भी मुक्त नहीं हो सकते । इसलिए गुरु एवं शास्त्र के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए ॥ कर्मत्यागान्नं संन्यासो न प्रैषोच्चारणेन तु । संधौ जीवात्मनौरैक्यं संन्यासः परिकीर्तिः ॥ १७ ॥

कर्मों को छोड़ देना ही संन्यास नहीं है । इसी प्रकार 'मैं संन्यासी हूँ' ऐसा कह देने से भी कोई संन्यासी नहीं हो सकता । समाधि अवस्था में जीव-परमात्मा की एकता का भान होना ही संन्यास कहा जाता है ॥ १७ ॥ वमनाहारवद्यस्य भाति सर्वेषणादिषु । तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः ॥ १८ ॥

जिस मनुष्य को समस्त एषणाएँ-इच्छायें वमन किये हुए (उगले हुए) आहार के समान लगती हैं और जिसने शरीर की ममता त्याग दी है, उसको संन्यास का अधिकार है ॥ १८ ॥

यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु । तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥ १९ ॥

जब सभी वस्तुओं से मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाए, तभी विद्वान् मनुष्य को संन्यास-धर्म ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा उसका अवश्य ही पतन हो जाता है ॥ १९ ॥

द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा । संन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नामुर्हति ॥ २० ॥

जो मनुष्य द्रव्य (धन) के, अन्न के, वस्त्रों के अथवा ख्याति के लोभ में संन्यास-धर्म ग्रहण कर लेता है, वह दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ, कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता ॥ २० ॥

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम् । अथमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा ॥ २१ ॥

तत्त्व का चिन्तन ही उत्तम (श्रेष्ठ) है, शास्त्र का चिन्तन मध्यम है, मन्त्रों का चिन्तन (साधना) अधम है और तीर्थों में भ्रमण करना अधम से भी अधम है ॥ २१ ॥

**अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते । प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥ २२ ॥**

जिस प्रकार कोई भी मनुष्य शाखा के अग्र भाग में प्रतिबिम्ब के रूप में दिखाई देने वाले फल का रसास्वादन कर आनन्द प्राप्त करना चाहे, उसी प्रकार वास्तविक अनुभव के बिना अज्ञानी मनुष्य ब्रह्म का आनन्द पाने की व्यर्थ कल्पना करता है ॥ २२ ॥

**न त्यजेच्चेद्यतिर्मुक्तो यो माधूकरमान्तरम् । वैराग्यजनकं श्रद्धाकलत्रं ज्ञाननन्दनम् ॥ २३ ॥**

जो संन्यासी मुक्त हो चुका है, वह वैराग्य रूपी पिता को, श्रद्धा रूपी पती को और ज्ञान रूपी पुत्र को न छोड़ते हुए अन्तःकरण में स्थित अद्वैतभावना का आनन्दमय रूप में चिन्तन करे ॥ २३ ॥

**धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च । ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्यकिंकराः ॥ २४ ॥**

जो (मनुष्य) धन में बड़ा है, जो आयु में बड़ा है अथवा जो विद्या में बड़ा है, वे सब अनुभव में बड़े के समक्ष नौकर अथवा शिष्य की भाँति ही हैं ॥ २४ ॥

**यन्मायया मोहितचेतसो मामात्मानमापूर्णमलब्धवन्तः ।**

**परं विदग्धोदरपूरणाय भ्रमन्ति काका इव सूरयोऽपि ॥ २५ ॥**

जो माया के प्रभाव से मूढ़ चित्त वाले होकर के 'मैं' रूपी आत्मा को सम्यक् रूप से नहीं जानते, वे यदि बुद्धिमान् भी हों, तो कौए की भाँति अभागे पेट को भरने के लिए जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरते हैं ॥ २५ ॥

**पाषाणलोहमणिमृणमयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः ।**

**तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्वाहार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ॥ २६ ॥**

प्रस्तर खण्ड, स्वर्ण अथवा मिट्टी द्वारा निर्मित मूर्तियों की पूजा, मोक्ष की इच्छा वाले को पुनः जन्म एवं भोग प्राप्त करने वाली होती है। इस कारण पुनः जन्म न ग्रहण करना पड़े, इस उद्देश्य से संन्यासी को इस प्रकार बाह्य जगत् की पूजा का परित्याग करके हृदय में ही (आत्मा की) पूजा करनी चाहिए ॥ २६ ॥

**अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे । अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥ २७ ॥**

समुद्र में रखा हुआ घड़ा अन्दर और बाहर जल से पूर्ण है तथा बाहर शून्य में स्थित घड़ा अन्दर और बाहर खाली ही है ॥ २७ ॥

**मा भव ग्राहाभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव । भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ २८ ॥**

आप ग्रहण करने वाले न बनें। इसी तरह से ग्रहण करने योग्य विषयरूप भी न बनें। इस प्रकार की सभी कल्पनाओं का त्याग करके शेष जो कुछ भी रहे, उसी में तन्मय रहें ॥ २८ ॥

**द्रष्टदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह । दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज ॥ २९ ॥**

द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन को वासना के साथ ही त्याग करके, जिसमें से दर्शन का सर्वप्रथम आभास होता है, उस आत्मा का ही तुम भजन करो ॥ २९ ॥

**संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः । जाग्रत्रिद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥ ३० ॥**

सभी संकल्प जिसमें शान्त हो गये हैं, जागृति तथा निद्रा जिससे परे हो गयी है, ऐसी जो प्रस्तर खण्ड की भाँति (दृढ़ एवं निश्चेष) अवस्था है, वही चरम स्वरूप की अवस्था है ॥ ३० ॥

## ॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

**अहमस्मि परश्चास्मि ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहम् ।**

**सर्वलोकगुरुश्चास्मि सर्वलोकेऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥**

(अतः स्थित ब्रह्म) मैं हूँ और (बाह्य स्थित) पर (ब्रह्म) भी मैं ही हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, उत्पत्ति हूँ, समस्त लोकों का गुरु हूँ और सभी लोकों में जो भी कुछ है, वह मैं ही हूँ ॥ १ ॥

**अहमेवास्मि सिद्धोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम् ।**

**अहमस्मि सदासोऽस्मि नित्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥**

मैं ही सिद्ध हूँ, मैं ही शुद्ध हूँ तथा परम तत्त्व भी मैं ही हूँ। मैं सदैव (विद्यमान रहता) हूँ, मैं नित्य हूँ एवं मलरहित भी मैं ही हूँ ॥ २ ॥

**विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ।**

**शुभोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि चैतन्योऽस्मि समोऽस्म्यहम् ॥ ३ ॥**

मैं विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न हूँ, मैं विशेष हूँ, सोम मैं हूँ, सभी कुछ मैं ही हूँ। मैं शुभ हूँ, शोकरहित हूँ, सम हूँ तथा चैतन्य भी मैं ही हूँ ॥ ३ ॥

**मानावमानहीनोऽस्मि निर्गुणोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ।**

**द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि द्वन्द्वहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ४ ॥**

मैं मान एवं अपमान से रहित हूँ, निर्गुण (गुणरहित) हूँ, मैं ही शिव हूँ, द्वैत एवं अद्वैत के भाव से रहित हूँ, सुख तथा दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित हूँ तथा वह (ब्रह्म) मैं ही हूँ ॥ ४ ॥

**भावाभावविहीनोऽस्मि भासाहीनोऽस्मि भास्म्यहम् ।**

**शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥ ५ ॥**

भाव-अभाव अर्थात् उत्पत्ति और विनाश से परे हूँ। भासा (प्रकाश) से अलग हूँ, किन्तु प्रकाश भी मैं ही हूँ। मैं शून्य और अशून्य रूप हूँ तथा मैं ही सुन्दर और असुन्दर भी हूँ ॥ ५ ॥

**तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि नित्यः शुद्धः सदाशिवः ।**

**सर्वासर्वविहीनोऽस्मि सात्त्विकोऽस्मि सदास्म्यहम् ॥ ६ ॥**

तुल्य-अतुल्य अर्थात् समता एवं विषमता से रहित हूँ, नित्य हूँ, शुद्ध हूँ एवं सदाशिव हूँ। मैं सर्व-असर्व की कल्पना से रहित हूँ, सात्त्विक हूँ और मैं सदैव (विद्यमान रहने वाला) हूँ ॥ ६ ॥

**एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च । सदसद्देवहीनोऽस्मि संकल्परहितोऽस्म्यहम् ॥ ७ ॥**

मैं एक संख्या विहीन (अद्वैतरहित) और दो संख्या रहित (द्वैतरहित) हूँ, सत् और असत् के भेद से रहित हूँ तथा मैं संकल्प से रहित हूँ ॥ ७ ॥

**नानात्मभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविग्रहः । नाहमस्मि न चान्योऽस्मि देहादिरहितोऽस्म्यहम् ॥ ८ ॥**

मैं विविधता से रहित तथा अखण्ड आनन्द स्वरूप हूँ। न मैं (अहं रूप) हूँ और अन्य भी नहीं हूँ। मैं शरीरादि से रहित हूँ ॥ ८ ॥

**आश्रयाश्रयहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम् ।**

**बन्धमोक्षादिहीनोऽस्मि शुद्धब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ९ ॥**

मैं आश्रय-निराश्रय से रहित हूँ, मैं आधार रहित हूँ, बन्ध एवं मोक्ष से भी रहित हूँ तथा मैं ही शुद्ध ब्रह्म स्वरूप हूँ ॥ ९ ॥

**चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोऽस्मि परात्परः ।**

**सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ १० ॥**

मैं चित्त आदि सभी से रहित हूँ, मैं परात्पर (ब्रह्म) हूँ। मैं सर्वदा विचार रूप हूँ। साथ ही विचार से परे भी हूँ ॥ १० ॥

**अकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः ।**

**ध्यातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ११ ॥**

'अकार', 'उकार' एवं 'मकार' रूप सनातन मैं ही हूँ। मैं ध्याता, ध्यान एवं ध्येय से परे भी हूँ ॥ ११ ॥

**सर्वत्रपूर्णरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः । सर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि परमात्मास्म्यहं शिवः ॥ १२ ॥**

मैं सर्वत्र पूर्णरूप हूँ, सच्चिदानन्द के लक्षणों से युक्त हूँ। सम्पूर्ण तीर्थों का स्वरूप भी मैं हूँ और परमात्म स्वरूप कल्याणकारी भगवान् शिव भी मैं ही हूँ ॥ १२ ॥

**लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लयहीनरसोऽस्म्यहम् । मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः शिवोऽस्म्यहम् ॥**

मैं लक्ष्य एवं अलक्ष्य से विहीन हूँ तथा लय न होने वाला रस स्वरूप हूँ। मैं ही प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता से रहित तथा मैं ही शिव स्वरूप हूँ ॥ १३ ॥

**न जगत्सर्वद्रष्टास्मि नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम् । प्रबृद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि प्रसन्नोऽस्मि हरोऽस्म्यहम् ॥ १४ ॥**

मैं इस संसार का सर्वद्रष्टा नहीं हूँ। मैं आँख आदि समस्त इन्द्रियों से रहित हूँ। मैं ही वृद्धि को प्राप्त करता हुआ, ज्ञानवान्, प्रसन्न एवं हर (पापों को हरने वाला) हूँ ॥ १४ ॥

**सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि सर्वकर्मकृदप्यहम् । सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम् ॥ १५ ॥**

मैं सभी इन्द्रियों से रहित हूँ, तब भी समस्त कर्म करने वाला मैं स्वयं ही हूँ। समस्त वेदान्त द्वारा सर्वदा तृप्त एवं सर्व सुलभ मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

**मुदितामुदिताख्योऽस्मि सर्वमौनफलोऽस्म्यहम् ।**

**नित्यचिन्मात्ररूपोऽस्मि सदा सच्चिन्मयोऽस्म्यहम् ॥ १६ ॥**

मैं आनन्द एवं शोक रूप हूँ, सर्वदा मौन रहने का फल रूप हूँ। नित्य चिद् रूप हूँ तथा मैं ही सच्चिद् रूप भी हूँ ॥ १६ ॥

**यत्किंचिदिपि हीनोऽस्मि स्वल्पमप्यति नास्म्यहम् । हृदयग्रन्थिहीनोऽस्मि हृदयाम्बुजमध्यगः ॥ १७ ॥**

जो कुछ भी है, मैं उससे रहित हूँ, मैं अति अल्प और अत्यधिक भी नहीं हूँ। (मैं) हृदय की ग्रन्थि से रहित हूँ तथा हृदय कमल के मध्य मैं रहने वाला भी हूँ ॥ १७ ॥

**षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशारहितोऽस्म्यहम् ।**

**अरिषद्वर्गमुक्तोऽस्मि अन्तरादन्तरोऽस्म्यहम् ॥ १८ ॥**

मैं (जन्म, अस्तित्व, विपरिणमन, विकास, अपक्षय और विनाश) छः विकारों से रहित, चर्म आदि छः कोशों (चर्म, मांस, रक्त, नाड़ी, मेद और मज्जा) से रहित तथा काम, क्रोधादि षड् रिपुओं से हीन हूँ और नितान्त अन्तः स्थान मैं रहने वाला हूँ ॥ १८ ॥

देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम्।

नास्ति नास्ति विमुक्तोऽस्मि नकाररहितोऽस्म्यहम्॥ १९ ॥

मैं देश और काल से रहित हूँ, दिगम्बर एवं आनन्द स्वरूप हूँ। यह नहीं है, यह नहीं है—इससे मैं मुक्त हूँ अर्थात् मैं अभावशून्य हूँ तथा 'नकार' से रहित भी मैं ही हूँ॥ १९ ॥

अखण्डाकाशरूपोऽस्मि ह्यखण्डाकारमस्म्यहम्।

प्रपञ्चमुक्तचित्तोस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम्॥ २० ॥

मैं अखण्ड आकाश स्वरूप हूँ, अखण्डाकार भी मैं ही हूँ, मैं सांसारिक प्रपञ्चों से परे चित्त वाला हूँ तथा संसार प्रपञ्चादि से रहित हूँ॥ २० ॥

सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम्।

कालत्रयविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम्॥ २१ ॥

मैं सर्वप्रकाश स्वरूप हूँ तथा चैतन्य रूपी ज्योति भी मैं ही हूँ। तीनों कालों से परे अर्थात् मुक्त हूँ एवं मैं काम-क्रोधादि से रहित हूँ॥ २१ ॥

कायिकादिविमुक्तोऽस्मि निर्गुणः केवलोऽस्म्यहम्।

मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा ॥ २२ ॥

मैं देह-अदेह (शरीर-अशरीर) से मुक्त हूँ, निर्गुण हूँ तथा मैं केवल एक हूँ। मुक्ति रहित होते हुए भी मुक्त हूँ तथा मैं सदैव मोक्षरहित हूँ॥ २२ ॥

सत्यासत्यादिहीनोऽस्मि सन्मात्रात्रास्म्यहं सदा ।

गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः ॥ २३ ॥

(मैं) सत्य-असत्य से रहित हूँ, केवल मैं ही सत्य स्वरूप से (भिन्न) सभी कालों में नहीं हूँ। मैं गमनागमन से रहित हूँ अर्थात् मुझे कहीं जाना अथवा न जाना नहीं है एवं मेरा गन्तव्य (जाने का स्थान) भी नहीं है॥ २३ ॥

सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः ।

एवं स्वानुभवो यस्य सोऽहमस्मि न संशयः ॥ २४ ॥

(मैं) सर्वदा समरूप एवं शान्त परमात्मा (पुरुषोत्तम) हूँ। जिसका इस प्रकार से स्वानुभव है, वह (ब्रह्म) निश्चित ही मैं हूँ। इसमें किसी भी तरह का संशय नहीं है॥ २४ ॥

यः शृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयमित्युपनिषत्॥२५॥

जो (मनुष्य) एक बार भी इस (मैत्रेयी) उपनिषद् का श्रवण करता है, वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। ऐसी ही यह उपनिषद् है॥ २५ ॥

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः ॥

॥ इति मैत्रेय्युपनिषत्पमासा ॥



## ॥ याज्ञवल्क्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें राजा जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद वर्णित है, जिसमें संन्यास धर्म की विस्तृत विवेचना हुई है। संन्यास धर्म की जिज्ञासा रखने वाले राजा जनक से याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि ब्रह्मचारी के बाद गृहस्थ, गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ तथा वानप्रस्थ के बाद संन्यास का क्रम है; किन्तु भावप्रवणता की स्थिति में—वैराग्य भाव की प्रचुरता की स्थिति में कभी भी संन्यास लिया जा सकता है। संन्यास ग्रहण करने वाले को शिखा, यज्ञोपवीत आदि के त्याग का विधान है। यज्ञोपवीत के बिना ब्राह्मण कैसे कहा जाएगा? इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि ॐकार ही संन्यासी का यज्ञोपवीत होता है। आगे क्रमशः संन्यासी के गुणों, आचार-विचार आदि की विस्तृत चर्चा है। साथ ही संन्यासी को उसके पथ से विचलित करने वाली स्त्री के दोषों का बीभत्स चित्रण भी किया गया है। सन्तान भी दुःखदायी ही है—यह कहते हुए संन्यासी को लोभ, मोह, काम-क्रोध से बचने का निर्देश है। अन्त में संन्यासी को जितेन्द्रिय बने रहने की सलाह देते हुए उसे अपने एक मात्र लक्ष्य 'परब्रह्म' के चिन्तन-मनन करने का निर्देश है, क्योंकि इसी से उसे मोक्ष की प्राप्ति होना सम्भव है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

अथ जनको हृषीकेशो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच भगवन्संन्यासमनुबूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदगृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनर्व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ॥ १ ॥

एक समय विदेहराज जनक महर्षि याज्ञवल्क्य जी के समक्ष जाकर बोले— “हे भगवन्! आप कृपा करके हमें संन्यास-धर्म समझाने का कष्ट करें।” तब याज्ञवल्क्य जी ने कहा—“हे राजन्! ब्रह्मचर्याश्रम को विधि-विधान से पूर्ण करके, गृहस्थ आश्रम को ग्रहण करना चाहिए। गृहस्थ धर्म में पुत्र-कलत्रादि का सुख भोगकर वन में निवास करे। वानप्रस्थ आश्रम के बाद संन्यास आश्रम को धारण कर लेना चाहिए। यदि जितेन्द्रिय हो जाये, तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ले ले या फिर अपनी इच्छानुसार गृहस्थ आश्रम के पश्चात् ले लेना चाहिए। वस्तुतः वानप्रस्थ के पश्चात् या फिर जिस दिन संसार से सर्वथा वैराग्य हो जाए, उसी दिन संन्यास ले लेना चाहिए। चाहे व्रती हो या नहीं, स्नातक हो अथवा न हो, अग्नि की सेवा कर चुका हो अथवा नहीं, जिस क्षण वैराग्य उत्पन्न हो जाए, उसी क्षण संन्यास ले लेना चाहिए। १ ॥

तदेके प्राजापत्यामेवेष्टि कुर्वन्ति । अथवा न कुर्यादाग्नेयामेव कुर्यात् । अग्निर्हिं प्राणः । प्राणमेवैतया करोति । त्रैथातवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति । अयं ते योनिर्वृत्तिजो यतो जातो अरोचथाः । तं जानन्नग्र आरोहाथा नो वर्धया रयिमित्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिष्ठेत् । एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ॥

इसके पश्चात् कुछ लोग प्राजापत्य यज्ञ करते हैं। या फिर इस यज्ञ को न कर आग्रेय यज्ञ ही कर ले, क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इस यज्ञ द्वारा प्राण का ही पोषण होता है या सत, रज, तम त्रिधातुओं से सम्बन्धित यज्ञ करे। तब इस मंत्र से अग्नि का आग्राण करे—‘हे अग्निदेव! जिस मूल कारण से आप प्रादुर्भूत होकर प्रकाशित हो रहे हैं, उसको जानते हुए आप खूब प्रज्वलित हों एवं हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाएँ।’ यही अग्नि का

मूल कारण है—यही प्राण है। अतः हे अग्निदेव ! आप अपने योनि रूप प्राण में प्रतिष्ठित हो जाएँ ॥ २ ॥

ग्रामादग्निमाहत्य पूर्ववदग्निमाजिघेत् । यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयादापो वै सर्वा देवता: सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धत्य प्राश्रीयात् साज्यं हविरनामयम् । मोक्षमन्त्रैस्त्रव्येवं वेद तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम् । शिखां यज्ञोपवीतं छित्त्वा संन्यस्तं मयेति त्रिवारमुच्चरेत् । एवमेवैतद्दग्नवन्निति वै याज्ञवल्क्यः ॥ ३ ॥

ग्राम (गाँव) से अग्नि को लाकर पूर्व की भाँति ही उसका आप्नाण करे। यदि अग्नि न मिल सके, तो जल में ही यजन कृत्य सम्पन्न करे; क्योंकि जल को सर्वदेवमय कहा गया है। मैं सभी देवों के प्रति हवन करता हूँ 'स्वाहा' यह आहुति उन्हें प्राप्त हो। इस प्रकार हवन करके उसका प्राशन करे अर्थात् उसे खा ले। यह रोगनाशक घृतयुक्त हवि है। मोक्ष मंत्रों के द्वारा इस तरह से वेदत्रयी की प्राप्ति करे। वह ही ब्रह्म है, उसकी उपासना करनी चाहिए। चोटी एवं यज्ञोपवीत का परित्याग करके 'मैंने संन्यास ग्रहण कर लिया है,' इस प्रकार से इसका तीन बार उच्चारण करे। हे विदेहराज जनक जी ! यह विधि ऐसी ही है, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा ॥ ३ ॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्य इदं प्रणवमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा । प्राश्याच्यायं विधिः ॥ ४ ॥

इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य जी से अत्रि ऋषि ने पूछा— 'हे महर्ष ! यज्ञोपवीत के बिना कोई ब्राह्मण कैसे रह सकता है ? याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा कि यह ॐकार ही उस संन्यासी का यज्ञोपवीत है, यही आत्मा है। जो पूर्वोक्त प्रकार से हवन करके उसका प्राशन कर आचमन कर लेता है। उस के लिए मात्र यही विधि है ॥ ४ ॥

अथ वा परिव्राद्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति । एष पन्थाः परिव्राजकानां वीराध्वाने वाऽनाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनेति स संन्यासी ब्रह्मविदिति । एवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

इस प्रकार गेरुवे वस्त्र धारण करने वाला संन्यासी मुण्डनयुक्त, अपरिग्रही, पवित्रतायुक्त, किसी से द्रोह (ईर्ष्या-द्वेष) न करने वाला, भिक्षाचरण करता हुआ ब्रह्मपद को प्राप्त होता है, वह ब्रह्मस्वरूप है अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति के लिए समर्थ है। संन्यासियों के लिए यही मार्ग है—यही विधि है। जल प्रवेश, अग्नि प्रवेश, वीराति, महाप्रस्थान (मृत्युमोक्ष) आदि में परिव्राजकों (संन्यासियों) के लिए यह रास्ता निर्दिष्ट किया है। इसी कारण से संन्यासी ब्रह्म का ज्ञाता (जानकार) होता है। यह विधि ऐसी ही है महाराज ; ऐसा याज्ञवल्क्य जी ने कहा ॥ ५ ॥

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणि श्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघदत्तात्रेयशुकवामदेवहारी-तक प्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गाऽव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः ॥ ६ ॥

यहाँ इन संन्यासियों में श्रेष्ठ परमहंस नाम वाले, अव्यक्त चिह्न को धारण करने वाले, अव्यक्त स्वभाव वाले, अनुन्मत्त होते हुए भी उन्मत्त (पागलों की भाँति) आचरण करने वाले हैं। (इनके नाम इस प्रकार हैं—) संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, दत्तात्रेय, शुक, वामदेव, हारीतक आदि-आदि ॥ ६ ॥

परस्त्रीपुरपराद्मुखास्त्रिदण्डं कमण्डलं भुक्तपात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं बहिरन्तश्वेतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् ॥ ७ ॥

संन्यासी को चाहिए कि वह दूसरों की स्त्रियों को न देखता हुआ तथा नगर में न रहता हुआ, त्रिदण्ड, कमण्डल, भुक्तपात्र (भोजन पात्र), जल पवित्र, शिखा, यज्ञोपवीत आदि सभी बाह्य एवं आन्तरिक प्रतीक चिह्नों को 'भूः स्वाहा' कहकर जल में विसर्जित करता हुआ निरन्तर आत्मा ता अनुसंधान करता रहे ॥ ७ ॥

यथा जातसूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहास्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा करपात्रेण वा कमण्डलूदकपो भैक्षमाचरन्नुदरमात्रसंग्रहः पात्रान्तरशून्यो जलस्थलक मण्डलुरबाधकरहः स्थलनिकेतनो लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागार देवगृहतृणकूट वल्मीकवृक्षमूलकुलाल-शालाग्रिहोत्र शालानदीपुलिनगिरि कुहरकोटर कन्दरनिर्झर स्थणिड लेष्वनिकेतनिवास्यप्रयत्नः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति ॥ ८ ॥

दिगम्बर, (शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि) द्वन्द्वों से रहित, परिग्रहरहित, ब्रह्मरूप तत्त्व की प्राप्ति के मार्ग में सम्यक् रूप से लगे हुए शुद्ध हृदय वाले, केवल प्राण तत्त्व को धारण करने के लिए यथा समय स्वच्छन्दतापूर्वक भिक्षा द्वारा उदर-पूर्ति करने वाले, लाभ-हानि की चिन्ता न करते हुए, हाथ के पात्र अथवा खण्डर में माँगकर भोजन ग्रहण करते हुए तथा कमण्डलु का जल पीकर आनन्दपूर्वक विचरण करे। भोजन मात्र इतना ही माँगे, जिससे कि उदर पूर्ति हो जाये, संग्रह करके रखने की आवश्यकता न हो। अपने निवास के लिए बाधारहित कोई एकान्त गुप्त स्थल का चुनाव करे। खाली खण्डहर, देवमन्दिर, तृण आदि की झोपड़ी, वल्मीकी, वृक्ष की जड़ के समीप, कुम्हारों की झोपड़ी, यज्ञशाला, नदी का तट, गुफा (खोह) अथवा झरनों के बड़े-बड़े पत्थरों पर हमेशा के लिए घर न बनाते हुए भी निवास करता हुआ, अपने शुभाशुभ समस्त कर्मों को निर्मूल करता हुआ जो संन्यास धर्म से शरीर को त्याग देता है, वह परमहंस के रूप में जाना जाता है ॥ ८ ॥

आशाम्बरो न नमस्कारो न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्यनिर्वर्तकः परिव्राट् परमेश्वरो भवति । अत्रैते श्रोका भवन्ति ॥ ९ ॥

वस्त्रादि से रहित, सभी में एक मात्र ब्रह्म को देखता हुआ किसी भी व्यक्ति को नमन के योग्य न समझते हुए, स्त्री-पुत्रादिकों के प्रति आसक्ति से हीन, लक्ष्य (लक्षणादि से ज्ञात) तथा अलक्ष्य (समाहित व असमाहित अवस्थाओं द्वारा) दोनों का निर्वर्तक (सब कुछ त्याग देने वाला) संन्यासी ही परमेश्वर होता है। इस सम्बन्ध में ये श्रोक कहे गये हैं ॥ ९ ॥

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि । तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतराय कदाचन ॥ १० ॥

जिस मनुष्य ने अपने से पूर्व (पहले ही) संन्यास ग्रहण कर लिया हो अथवा जो धर्म तुल्य हो अर्थात् आचार-विचार एवं सम्प्रदाय से जो श्रेष्ठ हो, उसे ही प्रणाम करना चाहिए, किसी अन्य को नहीं ॥ १० ॥

प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः । संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते वेदसंदूषिताशयाः ॥

प्रमादी, बहिर्मुखी, विषयों में आसक्त रहने वाले, नीच, कलह प्रिय एवं वेद के आशय (विचार) को दोषपूर्ण प्रतिपादित करने वाले संन्यासी भी देखने में आते हैं ॥ ११ ॥

नामादिभ्यः परे भूमि स्वाराज्ये चेत्स्थितोऽद्वये । प्रणमेत्कं तदात्मजो न कार्यं कर्मणा तदा ॥

नाम, धाम, काम एवं अवस्था आदि से परे, ऊँचे श्रेष्ठ स्थान पर प्रतिष्ठित, अद्वय रूप स्वाराज्य में (जिसमें अपने से भिन्न कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता) स्थित, स्थिर मति, आत्म तत्त्व में निष्पात संन्यासी भला कैसे किसी को प्रणाम करे; क्योंकि वह तो सभी में अपना ही रूप देखता है। उसके लिए तो कोई भी कार्य संसार में शेष नहीं रहता ॥ १२ ॥

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति । प्रणमेदण्डवद्वमावाश्चण्डालगोखरम् ॥ १३ ॥

(आत्म-तत्त्वज्ञ तो किसी व्यक्ति विशेष को भी प्रणाम नहीं करता अथवा फिर) ईश्वर को यह समझकर कि वह जीव के रूप में इस संसार के समस्त प्राणियों में स्थित है, घोड़े, चाण्डाल, गौ तथा गधे आदि सभी को दण्डवत् प्रणाम करता है ॥ १३ ॥

**मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोकेऽङ्गपञ्चे ।**

**स्त्राव्यस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥ १४ ॥**

मांस-मेदा आदि द्वारा निर्मित, यत्र-तत्र गमन करने वाली पिटारी रूप नारी के शरीर में, जिसमें कि नसें, हड्डी एवं ग्रन्थियाँ ही स्थित हैं, कौन-सी वस्तु शोभनीय है ॥ १४ ॥

**त्वङ्मांसरक्तवाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने । समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि ॥ १५ ॥**

इस (देवी स्वरूपा नारी) की त्वचा, मांस, रक्त, अश्रु एवं नेत्र आदि पृथक्-पृथक् करके (उसके शरीर के आन्तरिक अवयवों को ) तो देखो । क्या वे शोभनीय लगते हैं? यदि नहीं, तो फिर क्यों इस पर व्यर्थ में इन्हें मुग्ध (आसक्त) हुए जाते हो ॥ १५ ॥

**मेरुशृङ्गतोलासिगङ्गाजलरयोपमा । दृष्ट्य यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योलासशालिता ॥ १६ ॥**

जिसके स्तनों पर लटकने वाले हार को मेरुपर्वत के शिखरों के बीच से गिरने वाली गंगाजल की धारा की उपमा दी गई है और वैसे ही वह हार परिलक्षित भी होता है ॥ १६ ॥

**श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥ १७ ॥**

श्वशानेषु दिग्न्तेषु स एव ललनास्तनः । श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥ १७ ॥

श्वशान में तथा यत्र-तत्र दिशाओं में कटकर गिरा हुआ वही नारी का स्तन समय आने पर कुत्तों द्वारा इस तरह से खाया जाता हुआ दिखाई पड़ता है, जैसे कि एक सामान्य-सा खाद्य पदार्थ का टुकड़ा ॥ १७ ॥

**केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः । दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥**

सुन्दर केशों को सुव्यवस्थित किये हुए, नेत्रों में कज्जल (काजल) लगाने वाली, दुःस्पर्श (स्पर्श के लिए दुष्प्राप्य), नेत्रों को प्रिय लगाने वाली, प्रज्वलित अग्नि शिखा के सदृश जो स्त्रियाँ हैं; वे मनुष्य को तृणवन्न क्षणभर में जला देती हैं ॥ १८ ॥

**ज्वलिता अतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः । स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥ १९ ॥**

ये स्त्रियाँ दूर से ही दाध कर देने वाली, अत्यन्त रसयुक्त लगती हुई भी रसहीन कर देने वाली, नरक की अग्नि की लकड़ियाँ हैं, जो कि चारु दारुण (सुन्दर होने पर भी अत्यन्त दुःख दायी) प्रतीत होती हैं ॥ १९ ॥

**कामनाप्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः । नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥ २० ॥**

कामदेव रूपी बहेलिये ने मानव रूपी पक्षियों को आबद्ध करने के लिए हृदय को मुग्ध (मोहित) कर देने वाला स्त्रीरूपी जाल बिछा रखा है ॥ २० ॥

**जन्मपल्लवलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् । पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डका ॥ २१ ॥**

जन्म रूपी तलैया में निवास करने वाली, कलुषित हृदय रूपी कीचड़ में चलने वाले मनुष्य रूपी मछलियों के लिए दुर्वासना रूपी रसी से बँधी ये स्त्रियाँ मछली पकड़ने वाले काँट की भाँति हैं ॥ २१ ॥

**सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्दिक्यानया । दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥ २२ ॥**

सभी तरह के दोष रत्नों की पिटारी रूप इन दुःखों की जंजीर रूपी स्त्री से तो भगवान ही बचाये ॥ २२ ॥

यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्र भोगभूः ।

**स्त्रियं त्यक्त्वा जगन्त्यक्तं जगन्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥ २३ ॥**

जिसके पास स्त्री है, उसी के पास भोग की इच्छा है तथा जिसके पास स्त्री ही नहीं, वह कहाँ किसके साथ भोगे? यदि कोई मनुष्य स्त्री का त्याग कर दे, तो यह समझना चाहिए कि उसने संसार को ही छोड़ दिया। संसार छोड़ देने पर तो प्रत्येक व्यक्ति सुखी हो ही जाता है ॥ २३ ॥

**अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् । लब्धो हि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥ २४ ॥**

वैसे पुत्र भी कष्ट देने वाला ही होता है; क्योंकि पुत्र न होने पर माता-पिता को बहुत क्लेश होता है। यदि

किसी तरह से प्राप्त भी हो जाए, तो गर्भपात हो जाने अथवा प्रसव पीड़ा का कष्ट ही देता है ॥ २४ ॥

**जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च धूर्तता । उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥ २५ ॥**

यदि किसी प्रकार से (पुत्र) हो भी जाता है, तो उसे ग्रह, रोग आदि हो जाते हैं या फिर बालक ही नालायक हो जाता है। वह यज्ञोपवीत हो जाने के बाद भी अज्ञानी रह जाता है और यदि पढ़-लिख जाये, तो विवाह होना दुष्कर हो जाता है ॥ २५ ॥

**यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः । पुत्रदुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्नियते तदा ॥ २६ ॥**

इसके अतिरिक्त जवान लड़के का 'पर नारी से बुरा सम्पर्क न हो जाये' आदि भय बना रहता है या फिर यदि विवाह हो जाये, तो बालकों की इतनी संख्या हो जाती है कि परिवार का भरण-पोषण भी कठिन हो जाता है। इस तरह से पुत्र से होने वाले दुःखों की कोई गणना नहीं। इसके अलावा यह भी देखने में आता है कि सेठ लोगों के बच्चे ही नहीं होते और यदि होते भी हैं, तो मर जाते हैं आदि-आदि। (अतः इन समस्त दुःखों की कारण-भूत स्त्री का परित्याग कर देना चाहिए या विवाह ही न करे) ॥ २६ ॥

**न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः । न च वाङ्कपलश्चैव ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः ॥ २७ ॥**

यति को हाथ, पैर, आँखों और वाणी का चंचल नहीं होना चाहिए अर्थात् उसे पूर्ण जितेन्द्रिय होना चाहिए। तभी वह ब्रह्मचर्य-धर्म का पालन कर सकता है ॥ २७ ॥

**रिपौ बद्धे स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः । विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥ २८ ॥**

शत्रु एवं सांसारिक बन्धनों से युक्त शरीर में जो एक भाव से देखने वाला ज्ञानशील यति होता है, उसे किसी पर भी क्रोध नहीं आता। जिस प्रकार कि व्यक्ति को अपने हाथ-पैर आदि अंगों पर क्रोध नहीं आता ॥ अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते । धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसहा परिपन्थिनि ॥ २९ ॥

क्रोध करने वाले आदमी से पूछना चाहिए कि क्रोध पर ही तुम क्रोध क्यों नहीं करते हो; जो समस्त वस्तुओं का मूल कारण है। साथ ही जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का बलवान् बैरी है ॥ २९ ॥

**नमोऽस्तु मम कोपाय स्वाश्रयज्वालिने भृशाम् । कोपस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने ॥**

अपने स्वयं के आधार को ही भस्म कर देने वाले क्रोध के लिए मेरा बारम्बार नमस्कार है। मुझे वैराग्य प्रदान करने वाले एवं दोषों का बोध कराने वाले कोप को बारम्बार नमन-वंदन है ॥ ३० ॥

**यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी । प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान्सुषुप्तिं याति योगिराट् ॥ ३१ ॥**

जहाँ (जब) सामान्य जन शयन करते हैं, वहाँ (तब) संयमी पुरुष जागता है (संयमी पुरुष पूर्ण सावधान रहता है) तथा जब अन्य सामान्य जन जागते हैं, तब योगी पुरुष सुषुप्ति का आश्रय प्राप्त कर लेता है ॥ ३१ ॥ चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च । चित्त्वं चिदहभेते च लोकाश्चिदिति भावय ॥ ३२ ॥

यति को यही भावना करनी चाहिए कि मैं इस संसार में चित्तवरूप ही हूँ। अखण्ड ब्रह्माण्ड चिन्मय है तथा सभी कुछ चिदरूप ही है। मैं भी चिद ही हूँ एवं सम्पूर्ण सृष्टि चिदरूप ही है ॥ ३२ ॥

**यतीनां तदुपादेयं पारहंस्यं परं पदम् । नातः परतरं किंचिद्विद्यते मुनिपुङ्ग्व इत्युपनिषत् ॥ ३३ ॥**

हे मुनि श्रेष्ठ! परमहंस का परम श्रेष्ठ पद मोक्ष ही यतियों के लिए उपादेय (अर्थात् आवश्यक वस्तु) है। इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। यही सर्वोत्कृष्ट है। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई ॥ ३३ ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति याज्ञवल्क्योपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ योगतत्त्वोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें योग विषयक विविध उपादानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। भगवान् विष्णु के द्वारा पितामह ब्रह्मा के लिए योग विषयक गूढ़ तत्त्वों के निरूपण के साथ उपनिषद् का शुभारम्भ हुआ है। कैवल्य रूपी परमपद की प्राप्ति के लिए योग मार्ग ही श्रेष्ठ साधन बताया गया है। मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग के क्रम में इनकी चार अवस्थाओं (आरम्भ, घट, परिचय एवं निष्पत्ति) का वर्णन हुआ है। आगे चलकर योगी के आहार-विहार एवं दिनचर्या का उल्लेख किया गया है। उसी क्रम में योगसिद्धि के प्रारम्भिक लक्षणों का वर्णन तथा उससे सावधान रहने का निर्देश भी दिया गया है।

पूर्णमनोयोग से की गयी योगसाधना निःसन्देह सफल होती है, जो योगी साधक को सभी सिद्धियों (अणिमा, गरिमा, महिमा आदि) से सम्पन्न कर देती है, वह ईश्वरीय शक्तियों का अधिकारी बन जाता है। अन्तः वह आत्मतत्त्व का निर्वात दीपशिखा की तरह अन्तःकरण में साक्षात्कार करके आवागमन से मुक्त हो जाता है। इसी फलश्रुति के साथ योगतत्त्व उपनिषद् का समापन हुआ है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु..... इति शान्तिः ॥ ( ऋष्व्य-अवधूतोपनिषद् )

**योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि योगिनां हितकाम्यया । यच्छ्रुत्वा च पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १**

योगियों की हित-कामना की दृष्टि से मैं योगतत्त्व का वर्णन करता हूँ, जिसके श्रवण-अध्ययन तथा आचरण में धारण करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥

**विष्णुर्नामं महायोगी महाभूतो महातपाः । तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ॥ २ ॥**

विष्णु नामक महायोगी ही समस्त (भूत) प्राणियों के आदि महाभूत एवं महातपस्वी हैं। वे पुरुषोत्तम तत्त्वमार्ग में दीपक के सदृश प्रकाशमान हैं ॥ २ ॥

**तमाराध्य जगन्नाथं प्रणिपत्य पितामहः । पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टाङ्गसंयुतम् ॥ ३ ॥**

पितामह ब्रह्माजी ने उन जगत् के स्वामी (भगवान् विष्णु) की आराधना एवं प्रणाम करके, कहा-हे जगन्नाथ ! आप अष्टाङ्ग युक्त योग का उपदेश मुझे प्रदान करें ॥ ३ ॥

**तमुवाच हृषीकेशो वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः । सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः ॥ ४ ॥**

यह सुनकर उन भगवान् हृषीकेश ने कहा कि मैं उस तत्त्व का वर्णन करता हूँ तुम ध्यानयुक्त हो कर श्रवण करो। ये सभी जीव सुख-दुःख के माया रूपी जाल में आबद्ध हैं ॥ ४ ॥

**तेषां मुक्तिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम् । जन्ममृत्युजरा व्याधिनाशनं मृत्युतारकम् ॥ ५ ॥**

इस सुख-दुःख रूप माया के जाल को काटकर उन (समस्त जीवों) को मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला तथा जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि से छुटकारा दिलाने वाला यही मृत्युतारक मार्ग है ॥ ५ ॥

**नानामार्गस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् । पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥ ६ ॥**

कैवल्य रूपी परम पद, अन्य दूसरे मार्गों का आश्रय लेने से कठिनता से प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न शास्त्रों के मतों में पड़कर ज्ञानी जनों की बुद्धि मोह-ग्रस्त हो जाती है ॥ ६ ॥

**अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि । स्वात्मप्रकाशस्तुपं तत्किं शास्त्रेण प्रकाशयते ॥ ७ ॥**

उस अनिर्वचनीय पद का उल्लेख देवगण भी नहीं कर सकते, तब उस स्वप्रकाशित आत्मा के रूप का वर्णन शास्त्रों में कैसे किया जा सकता है ? ॥ ७ ॥

निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम् । तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम् ॥ ८ ॥

वह निष्कल (कलारहित), मल रहित, शान्त, सर्वातीत (सबसे परे), निरामय (रोगरहित) तत्व जीव रूप में पुण्य और पाप के फलों से पूर्ण हो जाता है ॥ ८ ॥

परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम् । सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ॥ ९ ॥

(यहाँ यह प्रश्न उठता है कि) जब वह परमात्मा सभी भाव और पद से परे, नित्य, ज्ञानरूप एवं मायारहित है, तब वह जीव भाव को कैसे प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

वारिवत्स्फुरितं तस्मिंस्तत्राहंकृतिरुत्थिता । पञ्चात्मकमभूत्प्रिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ॥ १० ॥

उस परमात्म तत्व में जल के सदृश स्फुरण हुआ और उसमें अहंकार की उत्पत्ति हुई। तब पञ्च महाभूत रूप, धातु से आबद्ध, गुणात्मक पिण्ड उत्पन्न हुआ ॥ १० ॥

सुखदुःखैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु । तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धैः परमात्मनि ॥ ११ ॥

उस विशुद्ध परमात्मा ने सुख-दुःख से युक्त होकर जीव-भावना की, इससे उसे जीव नाम दिया गया। कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमदो रजः । जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृष्णा ॥ १२ ॥ तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च । एभिदोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः केवलोऽस्तः ॥ १३ ॥

काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, मद, रजोगुण, जन्म-मृत्यु, कार्पण्य (कंजूसी), शोक, तन्द्रा, क्षुधा, तृष्णा, लज्जा, भय, दुःख, विषाद, हर्ष आदि समस्त दोषों से मुक्ति मिल जाने पर जीव को 'केवल' (विशुद्ध) माना गया है। तस्माद्वेषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते । योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ॥ १४ ॥ योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि । तस्माज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ॥ १५ ॥

अब उन दोषों को दूर करने का उपाय कहता हूँ। योग-विहीन ज्ञान मोक्ष देने वाला कैसे हो सकता है? ज्ञानरहित योग से भी मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। इस कारण मोक्ष के अभिलाषी को ज्ञान और योग दोनों का ही दृढ़ अभ्यास करना चाहिए ॥ १४-१५ ॥

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते । ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैकसाधनम् ॥ १६ ॥

अज्ञान से ही यह संसार बन्धन स्वरूप है तथा ज्ञान के द्वारा ही इस संसार से निवृत्ति हो सकती है। ज्ञान स्वरूप ही आदि में है और ज्ञान के माध्यम से ही ज्ञेय को प्राप्त किया जा सकता है ॥ १६ ॥

ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम् । निष्कलं निर्मलं साक्षात्सच्चिदानन्दरूपकम् ॥ १७ ॥

उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्तिज्ञानविवर्जितम् । एतज्ञानमिति प्रोक्तमथ योगं ब्रवीमि ते ॥ १८ ॥

जिसके द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान हो और कैवल्यपद, परमपद, निष्कल (कलारहित), निर्मल, सच्चिदानन्द स्वरूप, उत्पत्ति, स्थिति, संहार एवं स्फुरण का ज्ञान हो, वही वास्तविक ज्ञान है। अब इसके आगे योग के सन्दर्भ में वर्णन करते हैं ॥ १७-१८ ॥

योगो हि बहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः । मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः ॥ १९ ॥

हे ब्रह्मन्! व्यवहार की दृष्टि से योग के अनेकानेक भेद बताये गये हैं, जैसे- मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग आदि ॥ १९ ॥

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः । निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च सर्वत्र परिकीर्तिता ॥ २० ॥

योग की चार अवस्थायें सर्वत्र वर्णित की गई हैं। ये अवस्थायें- आरम्भ, घट, परिचय एवं निष्पत्ति हैं ॥ २० ॥

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्वक्ष्ये शृणु समासतः । मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ॥ २१ ॥

क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् । अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः ॥ २२ ॥

इन (चारों अवस्थाओं) के लक्षण संक्षेप में वर्णित किये जाते हैं—(मन्त्रयोग) जो मातृका आदि से युक्त मन्त्र को बारह वर्ष जप करता है, वह क्रमशः अणिमा आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है; परन्तु इस तरह का योग अल्प बुद्धि वाले लोग करते हैं तथा वे अधम कोटि के साधक होते हैं ॥ २१-२२ ॥

**लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तिः । गच्छस्तिष्ठन्स्वपन्भुज्ञन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥२३**

चित्त का लय ही लययोग है, वह करोड़ों तरह का कहा गया है, चलते, बैठते, रुकते, शयन करते, भोजन करते, कलारहित परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करता रहे ॥ २३ ॥

**स एव लययोगः स्याद्वठयोगमतः शृणु । यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः ॥ २४ ॥**  
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम् । समाधिः समतावस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते ॥ २५

इस प्रकार वह तो लययोग हुआ। अब हठयोग का श्रवण करो-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भृकुटी के मध्य में श्रीहरि का ध्यान तथा समाधि-साम्यावस्था को अष्टांग योग कहते हैं ॥  
**महामुद्रा महाबन्धो महावेदश्च खेचरी । जालंधरोहुयाणश्च मूलबन्धस्तथैव च ॥ २६ ॥**  
**दीर्घप्रणवसंधानं सिद्धान्तश्रवणं परम् । वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता ॥ २७ ॥**

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेद और खेचरी मुद्रा, जालन्धर बन्ध, उद्दिडयन बन्ध, मूलबन्ध, दीर्घ प्रणव संधान, परम सिद्धान्त का सुनना तथा वज्रोली, अमरोली एवं सहजोली ये तीन मुद्रायें हैं ॥ २६-२७ ॥

**एतेषां लक्षणं ब्रह्मप्रत्येकं शृणु तत्त्वतः । लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः ॥ २८ ॥**  
**अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन् । सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥ २९ ॥**

हे ब्रह्मन्! अब आप इनमें से प्रत्येक के लक्षणों को सुनें। यमों में एक मात्र सूक्ष्म आहार ही प्रमुख है तथा नियमों के अन्तर्गत अहिंसा प्रधान है। सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र ये चार मुख्य आसन हैं ॥ २८-२९ ॥  
**प्रथमाभ्यासकाले तु विद्म्हाः स्युश्चतुरानन् । आलस्यं कर्त्थनं धूर्तगोष्ठी मन्त्रादिसाधनम् ॥ ३० ॥**

हे चतुरानन! सर्वप्रथम अभ्यास के प्रारम्भिक काल में ही विद्म्ह उपस्थित होते हैं, जैसे आलस्य, अपनी बड़ाई, धूर्तपने की बातें करना तथा मन्त्रादिक का साधन ॥ ३० ॥

**धातुस्त्रीलौल्यकादीनि मृगतृष्णामयानि वै । ज्ञात्वा सुधीस्त्वजेत्सर्वान् विज्ञान्युण्यप्रभावतः ॥**

श्रेष्ठ, बुद्धिमान् साधक को धातु (रूपया आदि धन), स्त्री, लौल्यता (चंचलता) आदि को मृगतृष्णा रूप समझकर तथा विद्म्ह रूप जानकर त्याग देना चाहिए ॥ ३१ ॥

**प्राणायामं ततः कुर्यात्पद्मासनगतः स्वयम् । सुशोभनं मठं कुर्यात्सूक्ष्मद्वारं तु निर्वणम् ॥ ३२ ॥**

तदनन्तर उस श्रेष्ठ साधक को पद्मासन लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके लिए सबसे पहले एक छोटी-सी पर्णकुटी छोटे द्वार से युक्त तथा बिना छिद्र वाली विनिर्मित करे ॥ ३२ ॥

**सुषु लिमं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः । मत्कुण्डर्मशकैर्लूतैर्वर्जितं च प्रयत्नतः ॥ ३३ ॥**

तत्पश्चात् उस कुटी को गाय के गोबर से लीपकर शोभनीय बनाये तथा ठीक तरह से स्वच्छ करे और प्रयत्नपूर्वक खटमल, मच्छर, मकड़ी आदि जीवों से रहित करे ॥ ३३ ॥

**दिने दिने च संमृष्टं संमार्जन्या विशेषतः । वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुगुलादिभिः ॥ ३४ ॥**

प्रतिदिन उस (कुटिया) को झाड़-बुहार करके स्वच्छ करता रहे एवं साथ ही उसे धूप, गूगल आदि की धूनी देकर सुवासित भी करता रहे ॥ ३४ ॥

**नात्युच्छितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् । तत्रोपविश्य मेधावी पद्मासनसमन्वितः ॥ ३५ ॥**

जो न तो बहुत अधिक ऊँचा तथा न ही अतिनीचा हो, ऐसे वस्त्र, मृगचर्म या कुश के आसन पर बैठकर पद्मासन लगाना चाहिए ॥ ३५ ॥

**ऋजुकायः प्राज्जलिश्च प्रणमेदिष्टदेवताम् ।** ततो दक्षिणहस्तस्य अङ्गुष्ठैरैव पिङ्गलाम् ॥ ३६ ॥  
**निरुध्य पूरयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः ।** यथाशक्त्यविरोधेन ततः कुर्याच्यु कुम्भकम् ॥ ३७ ॥

शरीर को सीधा रखकर, हाथ जोड़ते हुए इष्ट देवता को प्रणाम करे, तत्पश्चात् दाँयें हाथ के अँगूठे से पिंगला को दबाकर शनैः-शनैः: वायु को भीतर की ओर खींचे तथा उसे यथा शक्ति रोककर कुम्भक करे ॥

**पुनस्त्यजेत्पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः ।** पुनः पिङ्गलयापूर्य पूरयेदुदरं शनैः ॥ ३८ ॥  
**धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिडया शनैः ।** यया त्यजेत्तयापूर्य धारयेदविरोधतः ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् पिंगला द्वारा उस वायु को सामान्य गति से बाहर निकाल देना चाहिए। इसके बाद पिंगला से वायु को पेट में पुनः भर कर, शक्ति के अनुसार ग्रहण करके रेचक करे। इस प्रकार जिस तरफ के नथुने से वायु बाहर निकाले, उसी तरफ से पुनः भरकर दूसरे नथुने से बाहर निकालता रहे ॥ ३८-३९ ॥

**जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।** अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रा परिगीयते ॥ ४० ॥

न तो अत्यन्त द्रुतगति से और न ही अत्यन्त धीमी गति से, वरन् सहज-सामान्य गति से जानु की प्रदक्षिणा करके एक चुटकी बजाए, इतने समय को एक मात्रा कहा जाता है ॥ ४० ॥

**इडया वायुमारोप्य शनैः षोडशमात्रया ।** कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्युतःषष्ठ्या तु मात्रया ॥ ४१ ॥

**रेचयेत्पिङ्गलानाडया द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।** पुनः पिङ्गलयापूर्य पूर्ववत्सुसमाहितः ॥ ४२ ॥

सर्वप्रथम 'इड़ा' में सोलह मात्रा तक वायु को खींचे, तत्पश्चात् चौंसठ मात्रा तक कुम्भक करे और तब इसके बाद बत्तीस मात्रा तक 'पिंगला' नाड़ी से रेचक करे। इसके बाद दूसरी बार 'पिंगला' से वायु खींचकर पहले की भाँति ही सारी क्रिया सम्पन्न करे ॥ ४१-४२ ॥

**प्रातर्मध्यांदिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।** शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वर्णं समध्यसेत् ॥ ४३ ॥

**प्रातः, मध्याह, सायंकाल एवं अर्द्धरात्रि** के समय चार बार धीरे-धीरे क्रमशः अस्सी कुम्भक तक का अभ्यास बढ़ाना चाहिए ॥ ४३ ॥

**एवं मासत्रयाभ्यासान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत् ।** यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यतः ॥

इस तरह से तीन मास तक अभ्यास करने से नाड़ी-शोधन हो जाता है। ऐसी शुद्धि होने से उस (श्रेष्ठ साधक) के चिह्न भी योगी की देह में दृष्टिगोचर होने लगते हैं ॥ ४४ ॥

**जायन्ते योगिनो देहे तानि वक्ष्याम्यशेषतः ।** शरीरलघुता दीमिर्जाठिराग्निविवर्धनम् ॥ ४५ ॥

**कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितम् ।** योगविघ्नकराहारं वर्जयेद्योगवित्तमः ॥ ४६ ॥

वे चिह्न ऐसे हैं कि शरीर में हल्कापन मालूम पड़ता है, जठराग्नि तीव्र हो जाती है, शरीर भी निश्चित रूप से कृश हो जाता है। ऐसे समय में योग में बाधा पहुँचाने वाले आहार का परित्याग कर देना चाहिए ॥ ४५-४६ ॥

**लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम् ।** शाकजातं रामठादि वह्निस्त्रीपथसेवनम् ॥ ४७ ॥

**प्रातः स्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत् ।** अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥

नमक, तेल, खटाई, गर्म, रूखा, तीक्ष्ण भोजन, हरे साग, हींग आदि मसाले, आग से तापना, स्त्री प्रसंग, अधिक चलना, प्रातः काल का स्नान, उपवास तथा अपने शरीर को पीड़ा पहुँचाने वाले अन्य कार्यों को प्रायः त्याग ही देना चाहिए। अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में दुग्ध, घृत का भोजन ही सर्वश्रेष्ठ है ॥ ४७-४८ ॥

**गोधूममुद्दशाल्यन्नं योगवृद्धिकरं विदुः । ततः परं यथेष्टं तु शक्तः स्याद्वायुधारणे ॥ ४९ ॥**

गेहूं, मूँग एवं चावल का भोजन योग में वृद्धि प्रदान करने वाला बतलाया गया है। इस प्रकार अभ्यास करने से वायु को इच्छानुसार धारण करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ४९ ॥

**यथेष्टधारणाद्वायोः सिध्येत्केवलकुम्भकः । केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते ॥ ५० ॥**

यथेष्ट वायु धारण कर सकने के उपरान्त 'केवल कुम्भक' सिद्ध हो जाता है और तब रेचक और पूरक का परित्याग कर देना चाहिए ॥ ५० ॥

**न तस्य दुर्लभं किंचित्तिषु लोकेषु विद्यते । प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ॥ ५१ ॥**

(ऐसा कर लेने के बाद) फिर उस (श्रेष्ठ) योगी के लिए तीनों लोकों में कभी कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। अभ्यास के समय जो पसीना निकले, उसे अपने शरीर में ही मल लेना चाहिए ॥ ५१ ॥

**ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः । कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः ॥ ५२ ॥**

इसके अनन्तर वायु की धारणा शक्ति निरन्तर शनैः-शनैः बढ़ती रहने से आसन पर बैठे हुए साधक के शरीर में कम्पन होने लगता है ॥ ५२ ॥

**ततोऽधिकतराभ्यासाद्वार्दुरी स्वेन जायते । यथा च दर्दुरो भाव उत्पुत्योत्पुत्य गच्छति ॥ ५३ ॥**  
**पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले । ततोऽधिकतराभ्यासाद्वृमित्यागश्च जायते ॥ ५४ ॥**

इससे आगे और अधिक अभ्यास होने पर मेढ़क की तरह चेष्टा होने लगती है। जिस तरह से मेढ़क उछलकर, फिर जमीन पर आ जाता है, उसी तरह की स्थिति पद्मासन पर बैठे योगी की हो जाती है। जब अभ्यास इससे भी अधिक बढ़ता है, तो फिर वह योगी जमीन से ऊपर उठने लगता है ॥ ५३-५४ ॥

**पद्मासनस्थ एवासौ भूमिमुत्सृज्य वर्तते । अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्यमुद्भवेत् ॥ ५५ ॥**

पद्मासन पर बैठा हुआ योगी अत्यन्त अभ्यास के कारण भूमि से ऊपर ही उठा रहता है। वह इस तरह से और भी अतिमानुषी चेष्टाएँ निरन्तर करने लगता है ॥ ५५ ॥

**न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम् । स्वल्पं वा बहुधा दुःखं योगी न व्यथते तदा ॥ ५६ ॥**

(परन्तु) योगी को इस प्रकार की शक्ति एवं सामर्थ्य का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए, वरन् स्वयं ही देखकर अपना उत्साहवर्द्धन करना चाहिए। तब थोड़ा या बहुत कष्ट भी योगी को पीड़ा नहीं पहुँचा सकता। अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते। कीलवो दूषिका लाला स्वेददुर्गन्धतानने ॥ ५७ ॥  
एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम्। ततोऽधिकतराभ्यासाद्वृलमुत्पद्यते बहु ॥ ५८ ॥

योगी का मल-मूत्र अति न्यून हो जाता है तथा निद्रा भी घट जाती है। कीचड़, नाक, थूक, पसीना, मुख की दुर्गन्ध आदि योगी को नहीं होती तथा निरन्तर अभ्यास बढ़ाने से उसे बहुत बड़ी शक्ति मिल जाती है। येन भूचरसिद्धिः स्याद्वृचराणां जये क्षमः। व्याघ्रो वा शरभो वापि गजो गवय एव वा ॥ ५९ ॥  
सिंहो वा योगिना तेन मियन्ते हस्तताडिताः। कन्दर्पस्य यथा रूपं तथा स्यादपि योगिनः ॥

इस प्रकार से योगी को भूचर सिद्धि की प्राप्ति होने से समस्त भू-चरों पर विजय की प्राप्ति हो जाती है। व्याघ्र, शरभ, हाथी, गवय (नीलगाय), सिंह आदि योगी के हाथ मारने मात्र से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। उस योगी का स्वरूप भी कामदेव के सदृश सुन्दर हो जाता है ॥ ५९-६० ॥  
**तद्रूपवशगा नार्यः काइक्षन्ते तस्य सङ्गमम् । यदि सङ्गं करोत्येष तस्य बिन्दुक्षयो भवेत् ॥ ६१ ॥**

उस योगी के रूप का अवलोकन कर अनेकानेक स्त्रियाँ आकृष्ट होकर उससे भोग की इच्छा करने लगती हैं, लेकिन यदि योगी उनकी इच्छा की पूर्ति करेगा, तो उसका वीर्य नष्ट हो जायेगा ॥ ६१ ॥

वर्जयित्वा स्त्रियाः सङ्गं कुर्यादभ्यासमादरात् । योगिनोऽङ्गे सुगन्धश्च जायते बिन्दुधारणात् ॥

अतः स्त्रियों का चिन्तन न करके दृढ़ निश्चयी होकर, निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। वीर्य को धारण करने से योगी के शरीर से सुगन्ध आने लगती है ॥ ६२ ॥

ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया । जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ॥ ६३ ॥

तदनन्तर एकान्त स्थल पर बैठकर प्लुत मात्रा (तीन मात्रा) से युक्त प्रणव (ॐकार) का जप करते रहना चाहिए, जिससे पूर्व जन्मों के पापों का विनाश हो जाए ॥ ६३ ॥

सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा । एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसंभवा ॥ ६४ ॥

यह ओंकार मंत्र सभी तरह के विघ्न-बाधाओं एवं दोषों का हरण करने वाला है। इसका निरन्तर अभ्यास करते रहने से सिद्धियाँ हस्तगत होने लगती हैं ॥ ६४ ॥

ततो भवेद्वटावस्था पवनाभ्यासतत्परा । प्राणोऽपानो मनो बुद्धिर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥ ६५ ॥

अन्योन्यस्याविरोधेन एकता घटते यदा । घटावस्थेति सा प्रोक्ता तच्छ्रिहानि ब्रवीम्यहम् ॥ ६६ ॥

इसके पश्चात् वायु-धारण का अभ्यास करना चाहिए। इस क्रिया से घटावस्था की प्राप्ति सहज रूप से होने लगती है। जिस अभ्यास में प्राण, अपान, मन, बुद्धि, जीव तथा परमात्मा में जो पारस्परिक निर्विरोध एकता स्थापित होती है, उसे घटावस्था कहा गया है। उसके चिह्नों का वर्णन आगे के श्लोकों में करते हैं ॥ ६५-६६ ॥

पूर्वं यः कथितोऽभ्यासश्चतुर्थाशं परिग्रहेत् । दिवा वा यदि वा सायं याममात्रं समभ्यसेत् ॥ ६७ ॥

एकवारं प्रतिदिनं कुर्यात्केवलकुम्भकम् । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम् ॥ ६८ ॥

योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते । यद्यत्पश्यति चक्षुभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ॥ ६९ ॥

पूर्व में जितना अभ्यास योगी करता था, उसका चतुर्थ भाग ही अब करे। दिन अथवा रात्रि में मात्र एक प्रहर ही अभ्यास करना चाहिए। दिन में एक बार ही 'केवल-कुम्भक' करे एवं कुम्भक में स्थिर होकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर लाये, यही प्रत्याहार होता है। उस समय आँखों से जो कुछ भी देखे, उसे आत्मवत् समझे ॥ ६७-६९ ॥

यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् । लभते नासया यद्यत्तदात्मेति भावयेत् ॥ ७० ॥

जो भी कुछ कर्णेन्द्रिय से श्रवण करे तथा जो कुछ भी नासिका के द्वारा सूँघे, उस सभी को आत्म-भावना से ही स्वीकार करे ॥ ७० ॥

जिह्वा यद्रसं ह्यत्ति तत्तदात्मेति भावयेत् । त्वचा यद्यत्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत् ॥ ७१ ॥

जिह्वा के माध्यम से जो भी कुछ रस ग्रहण करे, उसको भी आत्मरूप जाने। त्वचा से जो कुछ भी स्पर्श हो, उसमें भी अपनी आत्मा की ही भावना करे ॥ ७१ ॥

एवं ज्ञानेन्द्रियाणां तु तत्तदात्मनि धारयेत् । याममात्रं प्रतिदिनं योगी यत्नादतन्द्रितः ॥ ७२ ॥

इसी तरह से ज्ञानेन्द्रियों के जितने भी विषय हैं, उन सबको योगी अपनी अन्तरात्मा में धारण करे तथा प्रतिदिन एक प्रहर तक इस (क्रिया) का आलस्य त्यागकर प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करे ॥ ७२ ॥

यथा वा चित्तसामर्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम् । दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद्वारागमस्तथा ॥ ७३ ॥

वाक्सिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा । मलमूत्रप्रलेपेन लोहादेः स्वर्णता भवेत् ॥ ७४ ॥

ग्रे गतिस्तस्य जायेत संतताभ्यासयोगतः । सदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये ॥ ७५ ॥

इस प्रकार के अभ्यास द्वारा जैसे-जैसे योगी की चित्त-शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे ही उसको दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, क्षण भर में सुदूर क्षेत्र से आ जाना, वाणी की सिद्धि, जब चाहे जैसा रूप ग्रहण कर लेना, अदृश्य हो जाना, उसके मल-मूत्र के स्पर्श से लोहे का स्वर्ण में परिवर्तन हो जाना, आकाश मार्ग से गमन कर सकना आदि सिद्धियाँ प्रकट होने लगती हैं। बुद्धिमान् श्रेष्ठ योगी सदैव योग की सिद्धि की ओर ही ध्यान बनाये रखें॥ एते विद्वा महासिद्धेन्न रमेत्तेषु बुद्धिमान् । न दर्शयेत्स्वसामर्थ्यं यस्य कस्यापि योगिराट् ॥ ७६

(परन्तु) ये सभी सिद्धियाँ योग-सिद्धि के लिए विघ्नरूप हैं, बुद्धिमान् योगी साधक को इन (सिद्धियों) से बचना चाहिए। अपनी इस तरह की सामर्थ्य को कभी भी किसी के समक्ष प्रकट नहीं करना चाहिए॥ ७६ यथा मूढो यथा मूर्खो यथा बधिर एव वा । तथा वर्तेत लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये ॥ ७७ ॥

इसलिए श्रेष्ठ योगी को जन सामान्य के समक्ष अज्ञानी, मूर्ख एवं बधिर की भाँति बनकर रहना चाहिए। अपनी सामर्थ्य को सभी तरह से छिपाकर गुप्त रीति से रहना चाहिए॥ ७७ ॥

**शिष्याश्च स्वस्वकार्येषु प्रार्थयन्ति न संशयः । तत्तत्कर्मकरव्यग्रः स्वाभ्यासेऽविस्मृतो भवेत् ॥**

शिष्य-समुदाय अपने-अपने कार्यों के लिए योगी साधक से निश्चित ही प्रार्थना करेंगे; किन्तु योगी को उन (शिष्यगणों) के काम में पड़कर अपने कर्तव्य (अभ्यास) को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए॥ ७८ ॥

**सर्वव्यापारमुत्सृज्य योगनिष्ठो भवेद्यतिः । अविस्मृत्य गुरोर्वार्क्यमभ्यसेत्तदहर्निशाम् ॥ ७९ ॥**

उस योगी को चाहिए कि गुरु के वाक्यों को याद करके सभी तरह के क्रिया-कलापों को छोड़कर योग के अभ्यास में लगा रहे॥ ७९ ॥

**एवं भवेद्वटावस्था संतताभ्यासयोगतः । अनभ्यासवतश्चैव वृथागोष्या न सिद्ध्यति ॥ ८० ॥**

इस प्रकार लगातार योग के अभ्यास से उसे घटावस्था की प्राप्ति हो जाती है; परन्तु इस तरह की सिद्धि अभ्यास के द्वारा ही मिल सकती है, केवल बातों से कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता॥ ८० ॥

**तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाभ्यसेत् । ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः ॥ ८१ ॥**

**वायुः परिचितो यत्तादग्निना सह कुण्डलीम् । भावयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ ८२ ॥**

अतः 'योगी' को निरन्तर प्रयत्नपूर्वक योग का अभ्यास करते रहना चाहिए। तदनन्तर अभ्यास योग से 'परिचय अवस्था' का शुभारम्भ होता है। उस (अवस्था) के लिए प्रयत्नपूर्वक वायु से प्रदीप्त अग्नि सहित कुण्डलिनी को साधना के द्वारा जाग्रत् करके भावनापूर्वक सुषुम्ना में अवरोध रहित प्रवेश कराना चाहिए॥

**वायुना सह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम् । यस्य चित्तं स्वपवनं सुषुम्नां प्रविशेदिह ॥ ८३ ॥**

**भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्वेति पञ्चकः । येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोच्यते ॥ ८४ ॥**

तत्पश्चात् वायु के सहित चित्त को महापथ में अग्रसर करना चाहिए। जिस योगी का चित्त वायु के सहित 'सुषुम्ना' नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है, उसे पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु तथा आकाश इन पञ्च महाभूत रूपी देवों की पाँच प्रकार की धारणा हो जाती है॥ ८३-८४ ॥

**पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते । पृथिवी चतुरस्त्रं च पीतवर्णं लवर्णकम् ॥ ८५ ॥**

**पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम् । ध्यायंश्वतर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम् ॥ ८६ ॥**

पैरों से जानु (घुटनों) तक पृथ्वी तत्त्व का स्थान बतलाया गया है। चार कोनों से युक्त यह पृथ्वी, पीत वर्ण, 'ल' कार से युक्त कही गयी है। पृथ्वी तत्त्व में वायु को आरोपित करते हुए 'ल' कार को उसमें संयुक्त करके उस स्थान में स्वर्ण के समान रंग से युक्त चार भुजाओं एवं चतुर्मुख ब्रह्मा जी का ध्यान करना चाहिए॥

**धारयेत्पञ्च घटिका:** पृथिवीजयमाप्नुयात् । पृथिवीयोगतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः ॥ ८७ ॥

इस तरह से पाँच घटी (२ घंटे) तक ध्यान करने से योगी पृथ्वी तत्त्व को जीत लेता है। ऐसे योगी की पृथ्वी के संयोग (विकार या आघात) से मृत्यु नहीं होती ॥ ८७ ॥

**आजानो:** पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् । आपोऽर्थचन्द्रं शुक्लं च वंबीजं परिकीर्तितम् ॥  
वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् । स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥ ८९ ॥  
शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम् । धारयेत्पञ्च घटिका: सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ९० ॥

घुटनों से गुदास्थान तक जल-तत्त्व का क्षेत्र बतलाया गया है। यह जल-तत्त्व अर्द्ध चन्द्र के रूप में 'वं' बीज वाला होता है। इस जल-तत्त्व में वायु को आरोपित करते हुए 'वं' बीज को समन्वित करके चतुर्भुज, मुकुट धारण किये हुए, पवित्र स्फटिक के सदृश, पीत वस्त्रों से आच्छादित अच्युतदेव श्री नारायण का पाँच घटी (२ घंटे) तक ध्यान करना चाहिए। इससे सभी पापों से छुटकारा मिल जाता है ॥ ८८-९० ॥  
ततो जलाद्यं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते । आपायोर्हेदयान्तं च वह्निस्थानं प्रकीर्तितम् ॥ ९१ ॥

इसके पश्चात् उस योगी को जल से किसी भी तरह का डर नहीं रहता और न ही जल से उसकी मृत्यु हो सकती है। जलतत्त्व (गुदा भाग) से हृदय क्षेत्र तक अग्नि का स्थान बताया गया है ॥ ९१ ॥

**वह्निस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्धवम् । वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमुज्ज्वलम् ॥ ९२ ॥**

तीन कोणों से युक्त अग्नि, लाल रंग वाला एवं 'र' कार से संयुक्त होता है। अग्नि में वायु को आरोपित करके उस समुज्ज्वल 'र' कार को समन्वित करना चाहिए ॥ ९२ ॥

**त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसंनिभम् । भस्मोद्दूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन् ॥ ९३ ॥**

त्रियक्ष (तीन नेत्रों) से युक्त वर प्रदान करने वाले, तरुण आदित्य के सदृश प्रकाशमान तथा समस्त अङ्गों में भस्म धारण किये हुए भगवान् रुद्र का प्रसन्न मन से सदा ध्यान करना चाहिए ॥ ९३ ॥

**धारयेत्पञ्च घटिका वह्निनासौ न दाह्यते । न दह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निमण्डले ॥ ९४ ॥**

पाँच घटी (२ घंटे) तक इस तरह से चिन्तन करने से वह (योगी) अग्नि से नहीं जलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रखर जलती हुई अग्नि में भी संयोगवश प्रविष्ट कराया जाए, तो भी वह नहीं जलता ॥ ९४ ॥  
**आहृदयाद्भुवोर्मध्यं वायुस्थानं प्रकीर्तितम् । वायुःषट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम् ॥**

हृदय क्षेत्र से भृकुटियों तक का स्थान वायु का क्षेत्र कहा गया है, यह षट्कोण के आकार वाला, कृष्ण वर्ण से युक्त भास्वर 'य' अक्षर वाला होता है ॥ ९५ ॥

**मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम् । धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम् ॥ ९६ ॥**

मरुतस्थान पर यकार होता है। यहाँ 'य' अक्षर के सहित विश्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वर का सतत चिन्तन करना चाहिए ॥  
**धारयेत्पञ्च घटिका वायुवद्व्योमगो भवेत् । मरणं न तु वायोश्च भयं भवति योगिनः ॥ ९७ ॥**

इस तरह पाँच घटी अर्थात् दो घंटे तक उन विश्वतोमुख भगवान् का ध्यान करने से योगी वायु के सदृश आकाश में गमन करने वाला हो जाता है। उस महान् योगी को वायु से किसी भी तरह का भय नहीं व्याप्त होता तथा वह वायु से मृत्यु को भी नहीं प्राप्त होता ॥ ९७ ॥

**आंभूमध्यात् मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते । व्योम वृत्तं च धूप्रं च हकाराक्षरभासुरम् ॥ ९८ ॥**

भृकुटी के मध्य भाग से लेकर मूर्धा के अन्त तक का आकाश तत्त्व का क्षेत्र कहा गया है। यह व्योमवृत्त के आकार वाला, धूप्र वर्ण से युक्त तथा 'ह' कार (अक्षर) से प्रकाशित है ॥ ९८ ॥

**आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शंकरम् । बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम् ॥ १९ ॥**

इस आकाश तत्त्व में वायु का आरोपण करके 'ह' कार के ऊपर भगवान् शंकर (का ध्यान करे), जो बिन्दु रूप महादेव हैं। वही व्योमाकार में सदाशिव रूप हैं ॥ १९ ॥

**शुद्धस्फटिकसंकाशं धृतबालेन्दुमौलिनम् । पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम् ॥ १०० ॥**

वे भगवान् शिव परम पवित्र स्फटिक के सदृश निर्मल हैं, बालरूप चन्द्रमा को मस्तक में धारण किये हुए हैं, पाँच मुखों से युक्त, सौम्य, दश भुजा एवं तीन नेत्रों से युक्त हैं ॥ १०० ॥

**सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम् । उमार्थदेहं वरदं सर्वकारणकारणम् ॥ १०१ ॥**

वे भगवान् शिव सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों को धारण किये हुए, विभिन्न प्रकार के आभूषणों से विभूषित, पार्वती जी से सुशोभित अर्धाङ्ग वाले, वर प्रदान करने वाले तथा सभी कारणों के भी कारण रूप हैं ॥ १०१ ॥

**आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद्धृवम् । यत्र कुत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्रुते ॥ १०२ ॥**

उन भगवान् शिव का ध्यान आकाश तत्त्व में करने से निश्चित ही आकाश मार्ग में गमन की शक्ति मिल जाती है। इस ध्यान से साधक कहीं भी रहे, वह अत्यन्त सुख की प्राप्ति करता है ॥ १०२ ॥

**एवं च धारणा: पञ्च कुर्याद्योगी विचक्षणः । ततो दृढशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥ १०३ ॥**

इस प्रकार विशेष लक्षणों से संयुक्त योगी को पाँच तरह की धारणा करनी चाहिए। इस धारणा से उस योगी का शरीर अत्यन्त दृढ़ हो जाता है तथा उसे मृत्यु का भय भी व्याप्त नहीं होता ॥ १०३ ॥

**ब्रह्मणः प्रलयेनापि न सीदति महामतिः । समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिकाषष्टिमेव च । वायुं निरुद्ध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति ॥ १०४ ॥ सगुणं ध्यानमेतत्प्यादणिमादिगुणप्रदम् । निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत् ॥ १०५ ॥**

ब्रह्म-प्रलय अर्थात् चराचर में जल ही जल की स्थिति होने पर भी वह महामति दुःख को प्राप्त नहीं होता। छः घटी अर्थात् दो घंटे चौबीस मिनट तक वायु को रोककर आकाश तत्त्व में इष्ट सिद्धिदाता-देवों का निरन्तर ध्यान करते रहना चाहिए। सगुण ध्यान करने से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा निर्गुण रूप में चिन्तन करने से समाधि की स्थिति प्राप्त होती है ॥ १०४-१०५ ॥

**दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्न्यात् । वायुं निरुद्ध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम् ॥ १०६ ॥**

योग में निष्णात साधक मात्र बारह दिन में ही समाधि की सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है। वह योगी वायु (प्राण) को स्थिर करके (समाधि को सिद्ध करके) अपने जीवन में मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ १०६ ॥

**समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः । यदि स्वदेहमुत्त्रष्टमिच्छा चेदुत्सृजेत्त्वयम् ॥ १०७ ॥**

समाधि में जीवात्मा एवं परमात्मा की समान अवस्था हो जाती है। उसमें यदि अपना शरीर छोड़ने की इच्छा हो, तो उसका परित्याग भी किया जा सकता है ॥ १०७ ॥

**परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्कान्तिरिष्यते । अथ नो चेत्समुत्सृष्टं स्वशरीरं प्रियं यदि ॥ १०८ ॥**

**सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः । कदाचित्स्वेच्छ्या देवोऽभूत्वा स्वर्गं महीयते ॥ १०९ ॥**

इस प्रकार से योगी अपने आपको परब्रह्म में विलीन कर लेता है, उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता; किन्तु यदि उसको शरीर प्रिय लगता है, तो वह स्वयं ही अपने शरीर में स्थित होकर अणिमा आदि समस्त सिद्धियों से युक्त हो सभी लोकों में गमन कर सकता है तथा यदि चाहे तो कभी भी देवता होकर स्वर्ग में निवास कर सकता है ॥ १०८-१०९ ॥

मनुष्यो वापि यक्षो वा स्वेच्छयापि क्षणाद्ववेत्।

सिंहो व्याघ्रो गजो वाश्वः स्वेच्छया बहुतामियात्॥ ११० ॥

योगी स्वेच्छा से मनुष्य अथवा यक्ष का रूप भी क्षणभर में धारण कर सकता है। वह सिंह, हाथी, घोड़ा आदि अनेक रूपों को स्वेच्छापूर्वक धारण कर सकने में समर्थ होता है॥ ११० ॥

यथेष्टमेव वर्तेत यद्वा योगी महेश्वरः। अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि॥ १११ ॥

महेश्वर पद के प्राप्त हो जाने पर योगी इच्छानुकूल व्यवहार कर सकता है। यह भेद तो मात्र अभ्यास का ही है, फल की दृष्टि से तो दोनों समान ही हैं॥ १११ ॥

**पार्षिण वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्। प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेददृढम्॥**

साधक को चाहिए कि बाँयें पैर की एड़ी के द्वारा योनि स्थान को दबाये तथा दायें पैर को फैलाकर के उस पैर के अँगूठे को मजबूती से पकड़ ले॥ ११२ ॥

**चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः। कुम्भकेन यथाशक्ति धारयित्वा तु रेचयेत्॥ ११३ ॥**

इसके बाद ठोड़ी को छाती से लगा लेना चाहिए। तदनन्तर वायु को धीरे-धीरे अन्दर धारण करे और शक्ति के अनुसार कुम्भक करे, फिर रेचक के द्वारा वायु को बाहर निकाल देना चाहिए॥ ११३ ॥

**वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन ततोऽभ्यसेत्। प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत्॥ ११४ ॥**

इस क्रिया को निरन्तर अभ्यास पूर्वक बाँयें अंग से करने के उपरान्त दायें अंग से करे अर्थात् जो पैर फैलाया हुआ था, उसे योनि के स्थान पर लगाये और जो योनि के स्थान पर था, उसे फैलाकर अँगूठे को दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए॥ ११४ ॥

**अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत्। महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः॥ ११५ ॥**

**वायुना गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया। पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम्॥ ११६ ॥**

यह ही महाबन्ध कहलाता है। इस बन्ध का दोनों ही प्रकार से अभ्यास किया जाता है। महाबन्ध की क्रिया में सतत संलग्न रहने वाले योगी को एकाग्र होकर कण्ठ की मुद्रा द्वारा वायु की गति को आवृत करके दोनों नासिका-रन्ध्रों को संकुचित करने से तत्परतापूर्वक वायु भर जाती है॥ ११५-११६ ॥

**अयमेव महावेदः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम्। अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत्॥ ११७ ॥**

भ्रूमध्यदृष्टिरव्येषा मुद्रा भवति खेचरी। कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेददृढ़या धिया॥ ११८ ॥

बन्धो जालंधराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी। बन्धो येन सुषुप्तायां प्राणस्तूङ्गीयते यतः॥ ११९ ॥

उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः। पार्षिणभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चये-

दृढ़म्॥ १२० ॥ अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते। प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन

चैकताम्॥ १२१ ॥ गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः। करणी विपरीताख्या

सर्वव्याधिविनाशिनी॥ १२२ ॥

सिद्ध योगीजन इस (ऊपर वर्णित) महावेद का निरन्तर अभ्यास करते रहते हैं। जिह्वा को लौटाकर, अन्तः कपाल-कुहर में लगाकर दोनों भृकुटियों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करना खेचरी मुद्रा है। कण्ठ को संकुचित करके (ठोड़ी को) दृढ़तापूर्वक वक्ष पर स्थापित करना ही जालन्धर बन्ध कहलाता है। जो मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान होता है। जिस बन्ध से प्राण सुषुप्ता में उठ जाता है। उसे योगी लोग उड़ियान

बन्ध कहते हैं। एड़ी से योनि स्थान को ठीक प्रकार से दबाकर अन्दर की तरफ खींचे, इस तरह अपान को ऊर्ध्व की ओर उठाये, यही योनि बन्ध कहलाता है। इस क्रिया से प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता की प्राप्ति होती है तथा यह संशयरहित योग सिद्ध कराने वाला है। अब विपरीतकरणी मुद्रा के सन्दर्भ में बतलाते हैं। इसे समस्त व्याधियों का विनाश करने वाली कहा गया है ॥ ११७-१२२ ॥

**नित्यमध्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी । आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ १२३**

इस विपरीतकरणी मुद्रा का नित्य अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि बढ़ जाती है। इस कारण साधक अधिक आहार (भोजन) को पचा सकने में समर्थ हो जाता है ॥ १२३ ॥

**अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात् । अथः शिरश्छोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ १२४**

यदि साधक कम भोजन ग्रहण करेगा, तो उसकी जठराग्नि उसके शरीर को ही नष्ट करने लगेगी। इस मुद्रा के लिए प्रथम दिन क्षणभर के लिए सिर नीचे की ओर करके तथा पैरों को ऊपर की ओर करे ॥ १२४ ॥

**क्षणाच्च किंचिदधिकमध्यसेत्तु दिनेदिने । वली च पलितं चैव षण्मासार्धान्नं दृश्यते ॥ १२५**

इसके पश्चात् प्रत्येक दिन एक-एक क्षण भर निरन्तर अभ्यास बढ़ाता रहे, तो छः मास में ही साधक के शरीर की झुर्रियाँ तथा बालों की सफेदी समाप्त हो जायेगी ॥ १२५ ॥

**याममात्रं तु यो नित्यमध्यसेत्स तु कालजित् । वज्रोलीमध्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता । अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेदध्रुवम् ॥**

जो प्रतिदिन एक प्रहर (तीन घंटे) तक (इस विपरीतकरणी मुद्रा का) अभ्यास करता है, वह योगी काल को अपने वश में कर लेता है। जो योगी वज्रोली मुद्रा का नित्य अभ्यास करता है, वह जल्दी ही सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है। जो उस मुद्रा का अभ्यास कर लेता है, तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही जानना चाहिए। वह भूत, भविष्यत् का ज्ञाता हो जाता है तथा वह अवश्य ही आकाश मार्ग से गमन करने में समर्थ हो जाता है ॥ १२६-१२७ ॥

**अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने । वज्रोलीमध्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते ॥ १२८ ॥**

जो (योगी) 'अमरी' (मूत्र) को प्रतिदिन पीता है एवं ग्राणेन्द्रिय के द्वारा उसका नस्य करता (सूँघता) है तथा वज्रोली का अभ्यास करता है, तो उसे अमरोली का साधक कहा जाता है ॥ १२८ ॥

**ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम् । यदा तु राजयोगेन निष्पन्ना योगिभिः क्रियाः ॥ १२९**

इसके पश्चात् वह राजयोग सिद्ध करने में समर्थ हो जाता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। राजयोग के सिद्ध हो जाने से योगी को हठयोग की शरीर सम्बन्धी क्रियाओं की जरूरत नहीं पड़ती ॥ १२९ ॥

**तदा विवेकवैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम् । विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ॥ १३० ॥**

उसे निश्चय ही वैराग्य एवं विवेक की प्राप्ति सहजतया हो जाती है। भगवान् विष्णु ही महायोगी, महाभूत स्वरूप तथा महान् तपस्वी हैं ॥ १३० ॥

**तत्त्वमार्गं यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः । यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निष्पीड्य मुदमश्रुते ॥ १३१ ॥**

तत्त्वमार्ग पर गमन करने वाले को वे पुरुषोत्तम दीपक की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं। (यह जीवन विभिन्न योनियों में घूमता हुआ मानव योनि में आता है,) तब वह जिस स्तन को पीता है, दूसरी अवस्था में वैसे ही स्तन को दबाकर आनन्दानुभूति करता है ॥ १३१ ॥

**यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् । या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मात्रेव हि ॥**

(जीव ने) जिस योनि में जन्म लिया था, वैसी ही योनि में पुनः-पुनः रमण किया करता है। एक जन्म में जो माँ होती है, वही दूसरे जन्म में पती भी हो जाती है तथा जो पती होती है, वह माता बन जाती है ॥१३२॥

यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता । एवं संसारचक्रेण कूपचक्रे घटा इव ॥  
भ्रमन्तो योनिजन्मानि श्रुत्वा लोकान्समश्रुते । त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्त्रः संध्यास्त्रयः स्वराः ॥  
त्रयोऽग्र्यश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे । त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्थमक्षरम् ॥

जो पिता होता है, वह पुत्र बन जाता है तथा जो पुत्र होता है, वह पिता के रूप में जन्म ले लेता है। इस तरह से यह संसार चक्र, कूप-चक्र (पानी खींचने की रहट) के सदृश है, जिसमें प्राणी नाना प्रकार की योनियों में सतत गमनागमन करता रहता है। तीन ही लोक हैं, तीन ही वेद कहे गये हैं, तीन संध्यायें हैं, तीन स्वर हैं, तीन अग्नि हैं, तीन गुण (सत्, रज, तम) बतलाये गये हैं तथा तीन अक्षरों में सभी कुछ विद्यमान हैं। अतः इन तीन अक्षरों तथा अद्वाक्षर का भी योगी को अध्ययन करना चाहिए ॥ १३३-१३५ ॥

तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम् । पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा धृतम् ॥ १३६ ॥  
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्छनम् । हृदि स्थाने स्थितं पदां तस्य वक्त्रमधोमुखम् ॥ १३७ ॥  
ऊर्ध्वनालमधोबिन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं मनः । अकारे रेचितं पदामुकारेणैव भिट्ठते ॥ १३८ ॥  
मकारे लभते नादमर्थमात्रा तु निश्चला । शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम् ॥ १३९ ॥

सभी कुछ उसी (तीन अक्षरों) में पिरोया हुआ है, वही सत्यस्वरूप है, वही शाश्वत परमपद है। जैसे-पुष्प में सुगन्ध होती है, दुग्ध में धृत सन्निहित है, तिलों में तेल उत्पन्न होता है और प्रस्तर खण्ड में स्वर्ण निहित है, वैसे ही वह भी सभी में व्यास है। हृदय-संस्थान में जो कमल-पुष्प स्थित है, उसका मुख नीचे की ओर है एवं उसकी नाल (दण्डी) ऊर्ध्व की ओर है। नीचे बिन्दु है, उसी के मध्य में मन प्रतिष्ठित है। ‘अ’ कार में रेचित किया हुआ हृदय कमल का ‘उ’ कार से भेदन किया जाता है एवं ‘म’ कार में नाद (ध्वनि) को प्राप्त होता है। अर्द्ध मात्रा निश्चल, शुद्ध स्फटिक के समान निष्कल एवं पापनाशक है ॥ १३६-१३९ ॥

लभते योगयुक्तात्मा पुरुषस्तत्परं पदम् । कूर्मः स्वपाणिपादादिशिरश्चात्मनि धारयेत् ॥ १४० ॥  
एवं द्वारेषु सर्वेषु वायुपूरितरेचितः । निषिद्धं तु नवद्वारे ऊर्ध्वं प्राङ्गनिः श्वसस्तथा ॥ १४१ ॥

इस प्रकार योग से संयुक्त हुआ योगी पुरुष मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है। जिस तरह से कच्छप अपने हाथ, पैर एवं सिर को अपने अन्दर प्रतिष्ठित कर लेता है, उसी तरह से सभी द्वारों से भर करके दबाया हुआ वायु, नौ द्वारों के बन्द होने से ऊर्ध्व की ओर गमन कर जाता है ॥ १४०-१४१ ॥

घटमध्ये यथा दीपो निवातं कुम्भकं विदुः । निषिद्धैर्नवभिद्वैरिर्निर्जने निरुपद्रवे ॥

निश्चितं त्वात्ममात्रेणावशिष्टं योगसेवयेत्युपनिषत् ॥ १४२ ॥

जिस तरह वायुरहित घड़े के मध्य में (स्थिर लौ वाला) दीपक रखा होता है, उसी तरह से कुम्भक को जानना चाहिए। इस योग-साधना में नौ द्वारों के अवरुद्ध किये जाने पर सुनसान एवं निरुपद्रव स्थान में आत्मतत्त्व ही मात्र शेष रहता है। ऐसा ही यह योगतत्त्व उपनिषद् है ॥ १४२ ॥

ॐ सह नाववतु..... इति शान्तिः ॥

॥ इति योगतत्त्वोपनिषत्समाप्ता ॥

## ॥ वज्रसूचिकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल ९ मन्त्र हैं। सर्वप्रथम चारों वर्णों में से ब्राह्मण की प्रधानता का उल्लेख किया गया तथा ब्राह्मण कौन है, इसके लिए कई प्रश्न किये गये। क्या ब्राह्मण जीव है? शरीर है, जाति है, ज्ञान है, कर्म है या धार्मिकता है? इन सब सम्भावनाओं का निरसन कोई न कोई कारण बताकर कर दिया गया, अन्त में 'ब्राह्मण' की परिभाषा बताते हुए उपनिषद् कार कहते हैं कि जो समस्त दोषों से रहित, अद्वितीय, आत्मतत्त्व से सम्पूर्ण है, वह ब्राह्मण है। चौंकि आत्मतत्त्व सत्, चित्, आनन्द रूप ब्रह्म भाव से युक्त होता है, इसलिए इस ब्रह्म भाव से सम्पन्न मनुष्य को ही (सच्चा) ब्राह्मण कहा जा सकता है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ..... इति शान्तिः ॥ (ऋष्ट्य-आरुण्युपनिषद्)

**वज्रसूचीं प्रवक्ष्यामि शास्त्रमज्ञानभेदनम् । दूषणं ज्ञानहीनानां भूषणं ज्ञानचक्षुषाम् ॥ १ ॥**

अज्ञान नाशक, ज्ञानहीनों के दूषण, ज्ञान नेत्र वालों के भूषण रूप वज्रसूची उपनिषद् का वर्णन करता है ॥

**ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम् । तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम किं जीवः किं देहः किं जातिः किं ज्ञानं किं कर्म किं धार्मिक इति ॥ २ ॥**

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इन वर्णों में ब्राह्मण ही प्रधान है, ऐसा वेद वचन है और स्मृति में भी वर्णित है। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ब्राह्मण कौन है? क्या वह जीव है अथवा कोई शरीर है अथवा जाति अथवा कर्म अथवा ज्ञान अथवा धार्मिकता है ॥ २ ॥

**तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति चेतन्न । अतीतानागतानेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्वात् एकस्यापि कर्मवशादनेकदेहसंभवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च । तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति ॥ ३ ॥**

इस स्थिति में यदि सर्वप्रथम जीव को ही ब्राह्मण मानें (कि ब्राह्मण जीव है), तो यह सम्भव नहीं है; क्योंकि भूतकाल और भविष्यतकाल में अनेक जीव हुए हैं व होंगे। उन सबका स्वरूप भी एक जैसा ही होता है। जीव एक होने पर भी स्व-स्व कर्मों के अनुसार उनका जन्म होता है और समस्त शरीरों में, जीवों में एकत्र रहता है, इसलिए जीव को ब्राह्मण नहीं कह सकते ॥ ३ ॥

**तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेतन्न । आचाराण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वाज्जरामरणधर्माधर्मादिसाम्यदर्शनाद् ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमाभावात् । पित्रादिशरीरदहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोष-संभवाच्च । तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति ॥ ४ ॥**

क्या शरीर ब्राह्मण (हो सकता) है? नहीं, यह भी नहीं हो सकता। चाण्डाल से लेकर सभी मानवों के शरीर एक जैसे ही अर्थात् पाञ्चभौतिक होते हैं, उनमें जरा-मरण, धर्म-अधर्म आदि सभी समान होते हैं। ब्राह्मण-गौर वर्ण, क्षत्रिय-रक्त वर्ण, वैश्य-पीत वर्ण और शूद्र-कृष्ण वर्ण वाला ही हो, ऐसा कोई नियम देखने में नहीं आता तथा (यदि शरीर ब्राह्मण है तो) पिता, भाई के शरीर के दाह संस्कार करने से पुत्र आदि को ब्रह्म हत्या आदि का दोष भी लग सकता है। अस्तु, शरीर का ब्राह्मण होना सम्भव नहीं है ॥ ४ ॥

**तर्हि जातिब्राह्मण इति चेतन्न । तत्र जात्यन्तरजन्तुष्वनेकजातिसंभवा महर्षयो बहवः सन्ति । ऋष्यशृङ्गो मृग्याः कौशिकः कुशात् जाम्बूको जम्बूकात् । वाल्मीको वल्मीकात् व्यासः कैवर्तकन्यकायाम् शशपृष्ठात् गौतमः वसिष्ठ उर्वश्याम् अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात् । एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति । तस्मान्न जातिब्राह्मण इति ॥ ५**

क्या जाति ब्राह्मण है (अर्थात् ब्राह्मण कोई जाति है) ? नहीं, यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि विभिन्न जातियों एवं जन्तुओं में भी बहुत से ऋषियों की उत्पत्ति वर्णित है। जैसे-मृगी से शृंगी ऋषि की, कुश से कौशिक की, जम्बूक से जाम्बूक की, वल्मीक (बाँबी) से वाल्मीकि की, मल्लाह (धीवर) कन्या (मत्स्यगन्धा) से वेदव्यास की, शशक पृष्ठ से गौतम की, उर्वशी नामक अप्सरा से वसिष्ठ की, कुम्भ (कलश) से अगस्त्य ऋषि की उत्पत्ति वर्णित है। इस प्रकार पूर्व में ही कई ऋषि बिना (ब्राह्मण) जाति के ही प्रकाण्ड विद्वान् हुए हैं, इसलिए जाति विशेष भी ब्राह्मण नहीं हो सकती ॥ ५ ॥

**तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न । क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति । तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति ॥ ६ ॥**

क्या ज्ञान को ब्राह्मण माना जाए ? ऐसा भी नहीं हो सकता; क्योंकि बहुत से क्षत्रिय (राजा जनक) आदि भी परमार्थ दर्शन के ज्ञाता हुए हैं (होते हैं)। अस्तु, ज्ञान भी ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

**तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन्न । सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्धसंचितागामिकर्मसा-धर्म्यदर्शनात्कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति । तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति ॥ ७ ॥**

तो क्या कर्म को ब्राह्मण कहा जाए ? नहीं, ऐसा भी सम्भव नहीं है; क्योंकि समस्त प्राणियों के संचित, प्रारब्ध और आगामी कर्मों में साम्य प्रतीत होता है तथा कर्माभिप्रेरित होकर ही व्यक्ति क्रिया करते हैं। अतः कर्म को भी ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता ॥ ७ ॥

**तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न । क्षत्रियादयो हिरण्यदातारो बहवः सन्ति । तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति ॥ ८ ॥**

क्या धार्मिक ब्राह्मण हो सकता है ? यह भी सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता; क्योंकि क्षत्रिय आदि बहुत से लोग स्वर्ण आदि का दान करते रहते हैं। अतः धार्मिक भी ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

**तर्हि को वा ब्राह्मणो नाम । यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षड्गुर्मिष्टिभावे-त्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्द स्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमापरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत्साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसंपत्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहंकारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः । अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव । सच्चिदानन्दमात्मान-मद्वितीयं ब्रह्म भावयेदात्मानं सच्चिदानन्दं ब्रह्म भावयेदित्युपनिषत् ॥ ९ ॥**

तब ब्राह्मण किसे माना जाय ? (इसका उत्तर देते हुए उपनिषद्कार कहते हैं—) जो आत्मा के द्वैत भाव से युक्त न हो; जाति, गुण और क्रिया से भी युक्त न हो; षट् ऊर्मियों और षट् भावों आदि समस्त दोषों से मुक्त हो; सत्य, ज्ञान, आनन्द स्वरूप, स्वयं निर्विकल्प स्थिति में रहने वाला, अशेष कल्पों का आधार रूप, समस्त प्राणियों के अन्तस् में निवास करने वाला, अन्दर-बाहर आकाशवत् संव्यास; अखण्ड आनन्दवान्, अप्रमेय, अनुभवगम्य, अप्रत्यक्ष भासित होने वाले आत्मा का करतल आमलकवत् परोक्ष का भी साक्षात्कार करने वाला; काम-रागद्वेष आदि दोषों से रहित होकर कृतार्थ हो जाने वाला; शम-दम आदि से सम्पन्न; मात्सर्य, तृष्णा, आशा, मोह आदि भावों से रहित; दम्भ, अहङ्कार आदि दोषों से चित्त को सर्वथा अलग रखने वाला हो, वही ब्राह्मण है; ऐसा श्रुति, स्मृति-पुराण और इतिहास का अभिप्राय है। इस (अभिप्राय) के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से ब्राह्मणत्व सिद्ध नहीं हो सकता। आत्मा ही सत्-चित् और आनन्द स्वरूप तथा अद्वितीय है। इस प्रकार के ब्रह्मभाव से सम्पन्न मनुष्यों को ही ब्राह्मण माना जा सकता है। यही उपनिषद् का मत है ॥ ९ ॥

ॐ आप्यायन्तु ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति वज्रसूच्युपनिषत्समाप्ता ॥

## ॥ शास्त्रायायनीयोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय है। इसमें कुल ४० मंत्र हैं, जिसमें मुख्यतया विष्णुलिंग संन्यास धर्म का विवेचन किया गया है।

सर्वप्रथम मन को बन्धन एवं मोक्ष का कारण बताया गया है, तत्पश्चात् साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, शमादि सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व), कुटीचक का स्वरूप तथा अन्य संन्यासियों के धर्म, योग-यज्ञ आदि के चार रूप, परिव्राजकों के कर्तव्य, उनके निवास विषयक नियम, आत्मज्ञान से युक्त साधक की स्थिति, संन्यास धर्म से च्युत होने पर प्रत्यवाय (पाप) लगने का विशद वर्णन है। अन्त में विष्णुलिंग संन्यासी की फलश्रुति बताई गई है। जिस वंश में एक भी विष्णुलिंग संन्यासी होता है, उसकी तीस पीढ़ी पूर्व, तीस पीढ़ी बाद की तथा तीस पीढ़ी उसके बाद की भी तर जाती हैं। इस प्रकार वह संन्यासी ब्रह्मपद का अधिकारी बन जाता है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ १ ॥**

मन ही मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का कारण है। विषयादि भोगों में आसक्त मन बन्धन का और विषय-वासनाओं से पराइमुख मन मोक्ष का कारण है ॥ १ ॥

**समासक्तं सदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे । यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥ २ ॥**

जैसे यह मन सांसारिक विषय-भोगों में आसक्त रहता है, ऐसा यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाये, तो फिर ऐसे कौन से सांसारिक बन्धन हैं, जिनसे मुक्ति न मिलती हो, अर्थात् सभी बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है ॥ २ ॥ चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् । यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ ३ ॥

चित्त ही संसार है। हर पुरुष को अभ्यास द्वारा अपने चित्त का शोधन करना चाहिए। जो अपने चित्त को ब्रह्म में लगाता है, वह मनुष्य ब्रह्ममय हो जाता है। यह शाश्वत और परम गोपनीय बात है ॥ ३ ॥

**नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं नाब्रह्मवित्परमं प्रैति धाम । विष्णुक्रान्तं वासुदेवं विजानन्विप्रो विप्रत्वं गच्छते तत्त्वदर्शी ॥ ४ ॥**

वेदतत्त्व को न जानने वाले के लिए तो विराट् है ही नहीं, वह उसे मानता ही नहीं। ब्रह्म के ज्ञान से हीन मनुष्य उस परम स्वप्रकाशित धाम को प्राप्त ही नहीं करता। तत्त्वदर्शी विवेकवान् ब्राह्मण ही व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी उस वासुदेव को अपने स्वरूप में (अहं ब्रह्मास्मि) समझता हुआ विप्रत्व और जीवन्मुक्ति के तत्त्व को प्राप्त कर पाता है ॥ ४ ॥

**अथ ह यत्परं ब्रह्म सनातनं ये श्रोत्रिया अकामहता अधीयुः । शान्तो दान्त उपरतस्तिति-क्षुर्योऽनूचानो ह्यभिजज्ञौ समानःत्यक्तेषणो ह्यनृणस्तं विदित्वा मौनी वसेदाश्रमे यत्र कुत्र ॥ ५ ॥**

वेद में निष्णात तथा सभी तरह की इच्छाओं-कामनाओं से रहित होकर जो पुरुष सनकादिक की भाँति उस परमब्रह्म, सत्य-सनातन के स्वरूप को समझते हैं। वे सभी ब्रह्म के रूप वाले ही हो जाते हैं। ऐसा पुरुष अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला सभी विषय-भोगों से तृप्त, पराइमुख, सहनशील, वेदज्ञ, मुमुक्षुओं की भाँति उस परमब्रह्म को समझ लेता है। वह पुरुष सभी इच्छाओं से विरत, पितृदेव एवं गुरु के ऋणों से मुक्त होकर उस परब्रह्म को जान करके शान्त-मौन होकर कहीं आश्रम में निवास करे ॥ ५ ॥

**अथाश्रमं चरमं संप्रविश्य यथोपपत्तिं पञ्चमात्रां दधानः ॥ ६ ॥**

इसके बाद अन्तिम संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होकर के यथाबल त्रिदण्ड आदि पंच मात्राओं को स्वीकार करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करे ॥ ६ ॥

**त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम् । शिक्यं पवित्रमित्येतद्विभृयाद्यावदायुषम् ॥ ७ ॥**

जब तक आयु रहे, तब तक त्रिदण्ड, उपवीत, वस्त्र (उत्तरीय), कौपीन (लँगोटी), शिक्य (छोंका), पवित्र (पवित्री) को धारण करे ॥ ७ ॥

**पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्ता मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः । न त्यजेद्यावदुत्कान्तिरन्तेऽपि निखनेत्सह ॥ ८ ॥**

यति की ये पाँचों मात्राएँ ही ब्रह्म (ॐकार) में समाहित हैं। इनका त्याग कभी नहीं करना चाहिए। इन सभी को मृत्यु के उपरान्त शरीर के साथ ही भूमि में गाढ़ देना चाहिए ॥ ८ ॥

**विष्णुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च । तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ॥ ९ ॥**

विष्णुलिङ्ग व्यक्त और अव्यक्त ऐसे दो प्रकार के चिह्न विष्णु (संन्यासी) के कहे गये हैं। इन दोनों में से किसी एक का भी परित्याग कर देने पर संन्यासी पथभ्रष्ट हो जाता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं ॥ ९ ॥

**त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम् । निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम् ॥ १० ॥**

त्रिदण्ड जो वैष्णवलिङ्ग (संन्यासी के चिह्न विशेष) के रूप में जाना जाता है। यह चिह्न ब्राह्मणों को मुक्ति प्रदान करने वाला है। यह चिह्न वेद का अनुशासन रूप एवं समस्त धर्मों का निर्वाण स्वरूप है ॥ १० ॥

**अथ खलु सौम्य कुटीचको बहूदको हंसः परमहंस इत्येते परिव्राजकाश्रतुर्विधा भवन्ति । सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः शिखिन उपवीतिनः शुद्धचित्ता आत्मानमात्मना ब्रह्म भावयन्तः शुद्धचिद्गूपोपासनरता जपयमवन्तो नियमवन्तः सुशीलिनः पुण्यश्लोका भवन्ति । तदेतदृचाभ्युक्तम् । कुटीचको बहूदकश्चापि हंसः परमहंस इव वृत्त्या च भिन्नाः । सर्व एते विष्णुलिङ्गं दधाना वृत्त्या व्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम् ॥ ११ ॥**

हे सौम्य! संन्यासी के कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस-ये चार भेद होते हैं। ये चारों यज्ञोपवीत शिखा तथा विष्णुलिंग (संन्यासी के प्रतीक सर्वव्यापकता-समर्दर्शिता) को धारण करने वाले शुद्ध चित्त, स्वयं अपनी आत्मा में ब्रह्म को प्रतिष्ठित करने की भावना करते हुए उपासना करने वाले, जप और यम-नियम का पालन करने वाले एवं सुन्दर स्वभाव वाले होते हैं। इस सम्बन्ध में यह ऋचा है-‘कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस ये चार प्रकार अपनी-अपनी पृथक् वृत्तियों से भिन्न-भिन्न बताये गये हैं। ये सभी व्यक्त एवं अव्यक्त, ब्रह्म एवं अन्तःरूप विष्णुलिंग (संन्यास के चिह्न) को धारण करने वाले होते हैं’ ॥ ११ ॥

**पञ्चव्यज्ञा वेदशिः प्रविष्टाः क्रियावन्तोऽमि संगता ब्रह्मविद्याम् । त्यक्त्वा वृक्षं वृक्षमूलं श्रितासः संन्यस्तपुष्णा रसमेवाश्रुवानाः । विष्णुक्रीडा विष्णुरतयो विमुक्ता विष्णवात्मका विष्णुमेवापियन्ति ॥ १२ ॥**

ये पञ्चव्यज्ञ (गायत्री मन्त्र जप, योग, तप, स्वाध्याय एवं ज्ञान) तथा उपनिषदों के अर्थ का श्रवण करने वाले होते हैं। सभी अपने-अपने धर्मानुकूल कर्म करने वाले एवं ब्रह्मविद्या का आश्रय प्राप्त करने वाले हैं। ये सभी संसार रूपी वृक्ष को त्यागकर इसके मूलभाग (ब्रह्म) का आश्रय प्राप्त करने वाले तथा सभी कर्मकाण्ड आदि को छोड़कर सारभूत तत्त्व के रस का आनन्द प्राप्त करने वाले हैं। ये संन्यासी ब्रह्म क्रीडाओं को छोड़कर विष्णु के साथ ही क्रीडा करने वाले, विष्णुरूप आत्मा विष्णु का ही अर्चन एवं ध्यान करके कृतार्थ होते हैं ॥

**त्रिसंध्यं शक्तिः स्नानं तर्पणं मार्जनं तथा । उपस्थानं पञ्चयज्ञान्कुर्यादामरणान्तिकम् ॥ १३ ॥**

सभी को मृत्यु पर्यन्त प्रातः, मध्याह एवं सायंकालीन संध्या, स्नान, तर्पण, मार्जन, उपस्थान तथा पञ्चयज्ञ (देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ या अतिथि यज्ञ, भूतयज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ) अवश्य ही करना चाहिए ॥ १३ ॥  
**दशभिः प्रणवैः सप्तव्याहतिभिश्चतुष्पदा । गायत्रीजप यज्ञश्च त्रिसंध्यं शिरसा सह ॥ १४ ॥**

दश प्रणव (ॐकार) तथा सात व्याहतियों (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्) के सहित चार पाद युक्त एवं सिर (आपोज्योती इत्यादि) युक्त गायत्री का जप एवं यज्ञ त्रिकाल सन्ध्या के साथ करना चाहिए ॥ १४ ॥  
**योगयज्ञः सदैकाग्र्यभक्त्या सेवा हरेर्गुरुः । अहिंसा तु तपोयज्ञो वाऽम्बनः कायकर्मभिः ॥ १५ ॥**

एकाग्रचित्त होकर भक्ति भाव से योग, यज्ञ भगवान् (विष्णु) तथा गुरु की सेवा और मन, वाणी एवं कर्म के द्वारा हिंसारहित तप रूपी यज्ञ सतत करते रहना चाहिए ॥ १५ ॥

**नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः । ओमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्नौ जुहोति यत् ॥ १६ ॥**

समस्त उपनिषदों का अभ्यास (पाठ) स्वाध्याय यज्ञ कहा गया है । 'ॐ' इस प्रकार उच्चारण करते हुए ब्रह्मरूपी अग्नि में ही आत्मा की आहुति दी जाती है अर्थात् आत्मा को ब्रह्म में विलीन किया जाता है ॥ १६ ॥  
**ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः । ज्ञानदण्डा ज्ञानशिखा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥ १७ ॥**

वह (ॐकार ही) सभी श्रेष्ठ यज्ञों से भी उत्तम ज्ञानयज्ञ कहा गया है । इन सभी का ज्ञान ही दण्ड है, ज्ञान ही शिखा है और ज्ञान ही इनका यज्ञोपवीत है ॥ १७ ॥

**शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् । ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति वेदानुशासनम् ॥ १८ ॥**

जिसकी शिखा (चोटी) एवं यज्ञोपवीत ज्ञानमय होता है । उसकी समस्त वस्तुयें ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा वेद का अनुशासन (आदेश है) ॥ १८ ॥

अथ खलु सोम्यैते परिव्राजका यथा प्रादुर्भवन्ति तथा भवन्ति । कामक्रोधलोभमो-हृदम्भदर्पासूयाममत्वाहंकासादींस्तितीर्य मानावमानौ निन्दास्तुती च वर्जयित्वा वृक्ष इव तिष्ठा-सेत् । छिद्यमानो न ब्रूयात् । तदेवं विद्वांस इहैवामृता भवन्ति । तदेतदृचाभ्युक्तम् । बन्धुपुत्रमनुमो-दयित्वानवेक्ष्यमाणो द्वन्द्वसहः प्रशान्तः । प्राचीमुदीचीं वा निर्वर्तयंश्वरेत ॥ १९ ॥

हे प्रिय सोम्य ! ये परिव्राजक जिस प्रकार प्रादुर्भूत होते हैं, वह बतला दिया गया है । ये संन्यासी काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प (घमण्ड), असूया (दूसरे के गुणों में दोष निकालना), ममता, अहंकार आदि को पार करके, मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा को देखकर वृक्षवत् अविचल रहते हैं, काटे जाने (कष पड़ने) पर भी कुछ बोलते नहीं । इस प्रकार से विद्वज्जन इस लोक में ही अमृत-जीवन्मुक्त हो जाते हैं । इस सन्दर्भ में यह ऋचा द्रष्टव्य है-'भाई, पुत्रादि का पालन-पोषण करने के पश्चात् फिर कभी उनकी ओर नहीं देखे । दुःखादि सहते हुए पूर्व एवं उत्तर दिशाओं में अपने-अपने स्वरूप का अनुसंधान करते हुए भ्रमण करे ॥ १९ ॥

**पात्री दण्डी युगमात्रावलोकी शिखी मुण्डी चोपवीती कुटुम्बी ।**

**यात्रामात्रं प्रतिगृह्णन्मनुष्यात् अयाचितं याचितं वोत भैक्षं ॥ २० ॥**

पात्र एवं दण्ड धारण करते हुए युग (दो-जीवात्मा-परमात्मा) मात्र के दर्शन करने वाले, विशाल जटा-वाले या मुण्डन किये हुए मस्तक वाले, उपवीत ही जिसका कुटुम्ब है, ऐसे संन्यासी को केवल अपने प्राणयात्रा के लिए मनुष्यों से भिक्षा माँगकर या बिना माँगे ही भिक्षा ग्रहण करते हुए निरन्तर विचरण करना चाहिए ॥ २० ॥

**मृदार्वलाबूफलंतन्तुपर्णपात्रं तत्था यथा तु लब्धम् ।**

**क्षाणं क्षामं तृणं कन्धाजिने च पर्णमाच्छादनं स्यादहतं वा विमुक्तः ॥ २१ ॥**

मिट्टी, लकड़ी की तुम्बी, श्रीफल, तन्तु ग्रथित या पत्तों से निर्मित पात्र जिस तरह का भी मिले, ग्रहण कर लेना चाहिए। चटाई, वृक्षों की छाल या सूखी घास से बनी कथरी, अजिन (कृष्णमृग चर्म) तथा जो पत्ते कीड़ों द्वारा खाये न गये हों, ऐसे श्रेष्ठ पत्तों के द्वारा बनाई गयी ओढ़नी-उत्तरीय को धारण करना चाहिए ॥ २१ ॥ ऋतुसन्धौ मुण्डयेन्मुण्डमात्रं नाथो नाक्षं जातु शिखां न वापयेत् । चतुरो मासान्धुवशीलतः स्यात्स यावत्सुमोऽन्तरात्मा पुरुषो विश्वरूपः ॥ २२ ॥

हंस (संन्यासी) को ऋतु सन्धि के समय क्षौर कर्म अर्थात् मुण्डन कराना चाहिए, किन्तु कुटीचक (यह भी संन्यासियों का एक भेद है) शिखा (जटा) को कभी न कटाये । जब विश्वरूप विराट् पुरुष भगवान् नारायण शयन करते हैं, तब तक चार मास (चौमासा) एक ही स्थान पर स्थिर चित्त से निवास करे ॥ २२ ॥

अन्यानथाष्टौ पुनरुत्थितेऽस्मिन्स्व कर्मलिप्मुर्विहरेद्वा वसेद्वा । देवाग्न्यगारे तरुमूले गुहायां वसेदसङ्गोऽलक्षितशीलवृत्तः । अनिन्धनो ज्योतिरिवोपशान्तो न चोद्विजेदुद्विजेद्यत्र कुत्र ॥ २३ ॥

इस प्रकार अन्य (श्रवण, ध्यान एवं समाधि आदि की) अवस्थाओं को प्राप्त करने का इच्छुक संन्यासी स्वकर्म करते हुए एक स्थान पर ही निवास हेतु रह जाये अथवा उसे अन्यत्र आश्रय प्राप्त कर लेना चाहिए । अपना निवास किसी देवालय में वृक्ष के मूल (जड़) के समीप में अथवा गुफा में कर लेना चाहिए तथा वहाँ निःसंग एवं सर्वथा अलक्षित (जन संसर्ग से दूर रहकर) बिना काष्ठ की अग्नि के समान शान्त चित्त होकर रहे । किसी को भी देखकर क्षुभित न हो, सभी में आत्मबुद्धि कर लेनी चाहिए ॥ २३ ॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ २४ ॥

यदि पुरुष अपनी आत्मा को ब्रह्म रूप में जान ले, तो फिर वह क्या चाहता हुआ किस इच्छा से शरीर का पोषण अथवा शोषण करे ? अर्थात् उसे नहीं करना चाहिए ॥ २४ ॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्वृहूञ्छद्वान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ २५ ॥

धैर्यवान् ब्राह्मण उस अविनाशी परब्रह्म को पहचान कर, उसी (ब्रह्म) में बुद्धि को स्थिर करे । अधिकाधिक शब्दाडम्बर में नहीं पड़ना चाहिए; क्योंकि यह सब वाणी का दुरुपयोग है ॥ २५ ॥

बाल्येनैव हि तिष्ठासेन्निर्विद्य ब्रह्मवेदनम् । ब्रह्मविद्यां च बाल्यं च निर्विद्य मुनिरात्मवान् ॥ २६ ॥

वैराग्ययुक्त होकर ही स्थिर रहने की इच्छा करनी चाहिए । ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, ऐसा दृढ़ निश्चय कर ब्रह्म को पहचान एवं वैराग्य को भली-भाँति समझकर आत्माराम होकर सर्वत्र आत्मदर्शन करे ॥ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मत्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्रुते ॥

जब हृदय में रहने वाली समस्त कामनाएँ शान्त हो जाती हैं, तब यह मरणधर्म होता हुआ भी मृत्युहीन होकर ब्रह्मानन्द का रसास्वादन करता है ॥ २७ ॥

अथ खलु सोम्येदं परिव्राज्यं नैष्ठिकमात्मधर्मं यो विजहाति स वीरहा भवति । स ब्रह्महा भवति । स भ्रूणहा भवति । स महापातकी भवति । य हमां वैष्णवीं निष्ठां परित्यजति । स स्तेनो भवति । गुरुतल्पगो भवति । समित्रधूग्भवति । स कृतघ्नो भवति । स सर्वस्मा लोकात्प्रच्युतो भवति । तदेतदृचाभ्युक्तम् । स्तेनः सुरापो गुरुतल्पगामी मित्रधूगेते निष्कृतेर्यान्ति शुद्धिम् । व्यक्तमव्यक्तं वा विधृतं विष्णुलिङ्गं त्यजन्न शुद्ध्येदखिलैरात्मभासा ॥ २८ ॥

हे प्रिय सोम्य ! जो अपने इस नैष्ठिक संन्यासियों के धर्म को छोड़ देता है, वह पुरुषत्वनाशक, ब्रह्मघाती,

गर्भधाती तथा महापातकी (के सदृश). होता है। जो (संन्यासी) इस वैष्णवी निष्ठा को त्याग देता है, वह चोर होता है। गुरुपत्रीगामी, मित्रद्रोही एवं कृतघ्न हो जाता है तथा समस्त लोकों से भ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में ये ऋचाएँ हैं—चोर, शराबी, गुरुपत्रीगामी, एवं मित्रद्रोही ये प्रायशिचत्त से शुद्ध हो जाते हैं; किन्तु व्यक्त एवं अव्यक्त स्वरूप विष्णु लिङ्ग (अनुशासन सूत्रों) को छोड़ने पर संन्यासी किसी भी तरह से पवित्र नहीं हो सकता है॥ २८॥

**त्यक्त्वा विष्णोर्लिङ्गमन्तर्बहिर्वायः स्वाश्रमं सेवतेऽनाश्रमं वा । प्रत्यापत्तिं भजते वातिमूढो नैषां गतिः कल्पकोट्यापि दृष्टा ॥ २९ ॥**

अन्तः तथा बाह्य विष्णु लिङ्ग को छोड़कर जो संन्यासी अपने आश्रम में ही निवास करता है अथवा आश्रम का त्याग कर देता है, वह प्रतिपल विपत्तियों से घिरा रहता है, ऐसे व्यक्तियों की सद्गति अनन्तकाल तक भी देखने में नहीं आती॥ २९॥

**त्यक्त्वा सर्वाश्रमान्धीरो वसेन्मोक्षाश्रमे चिरम् । मोक्षाश्रमात्परिभ्रष्टो न गतिस्तस्य विद्यते ॥३०॥**

धैर्यवान् पुरुष समस्त आश्रमों का परित्याग करके मोक्षरूपी आश्रम में दीर्घकाल तक निवास करे। यदि मोक्ष-आश्रम से भी भ्रष्ट हो जाये, तो फिर उसको कहीं पर भी ठौर नहीं है॥ ३०॥

**पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति । तमारूढच्युतं विद्यादिति वेदानुशासनम् ॥ ३१ ॥**

जो (पुरुष) संन्यास-आश्रम को ग्रहण करके अपने धर्म में स्थिर नहीं रहता, ऐसे (पुरुष) को आरूढ़ च्युत (पातकी) समझना चाहिए, क्योंकि वह (पुरुष) संन्यास आश्रम में आकर के भी पातकी हो चुका है, ऐसा वेद का अनुशासन (आदेश) है॥ ३१॥

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां लब्ज्वा यस्तामदूषयन्वर्तते स वशी भवति । स पुण्यश्रूको भवति । स लोकज्ञो भवति । स वेदान्तज्ञो भवति । स ब्रह्मज्ञो भवति । स सर्वज्ञो भवति । स स्वराद् भवति । स परं ब्रह्म भगवन्तमाप्नोति । स पितृन्संबन्धिनो बान्धवान्सुहृदो मित्राणि च भवादुत्तारयति ॥ ३२ ॥

हे प्रिय सोम्य ! जो पुरुष इस सनातन आत्मधर्म, विष्णु से सम्बन्धित निष्ठा को प्राप्त करके उसको प्रदूषित न करता हुआ प्रतिष्ठित रहता है, वह जितेन्द्रिय होता है। वह विशाल कीर्ति एवं लोकतत्त्व का ज्ञाता होता है। वह ब्रह्मवेता होता है, वह सर्वज्ञ होता है। वह स्वयं प्रकाश स्वरूप होता हुआ परब्रह्म को प्राप्त करता है। वह अपने पितरों, सम्बन्धियों, बधुओं, मित्रों तथा समस्त प्रेमी-सम्बन्धियों को संसार-सागर से तार देता है॥ ३२॥ तदेतदृचाभ्युक्तम् । शतं कुलानां प्रथमं बभूव तथा पराणां त्रिशतं समग्रम् । एते भवन्ति सुकृतस्य लोके येषां कुले संन्यसतीह विद्वान् ॥ ३३ ॥

जो विद्वान् इस संन्यास-धर्म को ग्रहण करता है, उसके कुल में सौ पीढ़ी पूर्व तथा तीन सौ पीढ़ी बाद तक जन्म लेने वालों का उद्धार हो जाता है। ऐसे श्रेष्ठ कृत्य करने वाले विद्वान् संन्यासी कभी-कभी ही इस लोक में प्रकट होकर इसे कृतार्थ करते हैं॥ ३३॥

**त्रिंशत्परांस्त्रिंशदपरांस्त्रिशत्त्वं परतः परान् । उत्तारयति धर्मिष्ठः परिव्राडिति वै श्रुतिः ॥ ३४ ॥**

विद्वान् धर्मिष्ठ संन्यासी तीस पर (बाद की), तीस अपर (पूर्व की) एवं तीस पर से भी पर(बाद से बाद की) पीढ़ियों-पूर्वजों को तार देता है, ऐसा श्रुति का वचन है॥ ३४॥

**संन्यस्तमिति यो ब्रूयात्कण्ठस्थप्राणवानपि । तारिताः पितरस्तेन इति वेदानुशासनम् ॥ ३५ ॥**

प्राणों के कण्ठगत (मृत्यु के समीप) होने पर भी जो इस प्रकार कह दे कि 'मैंने संन्यास ले लिया है', तो ऐसा समझना चाहिए कि उसने पितरों को तार दिया, ऐसी वेद की आज्ञा (अनुशासन) है ॥ ३५ ॥

**अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां नासमाप्य प्रब्रूयात् । नानूचानाय नानात्मविदे नावीतरागाय नाविशुद्धाय नानुपसन्नाय नाप्रयतमानसायेति ह स्माहुः । तदेतदृचाभ्युक्तम् । विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूयकायानृजवे शठाय मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥ ३६ ॥**

हे प्रिय सोम्य ! विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह इस सनातन आत्मनिरूपक धर्म को विष्णु सम्बन्धी निष्ठा को सम्यक् रूप से निर्वाह किये (स्वयं आचरण किये) बिना उपदिष्ट न करे । इसके साथ ही जो वेदान्त का ज्ञानी न हो, आत्मबोध युक्त न हो, वीतराग न हो, शुद्धचित्त, विनीत एवं जिज्ञासु न हो, ऐसे पुरुष को इसका उपदेश नहीं करना चाहिए । इस बात को पोषण प्रदान करने वाली ऋचाएँ ये हैं—ब्रह्मविद्या ब्राह्मण के समीप में आयी एवं बोली—हे ब्रह्मन् ! मेरी रक्षा करो, मैं ही तुम्हारी निधि हूँ । मुझे दूसरों के गुणों में दोष देखने वाले कुटिल, धूर्त, मूर्ख पुरुष को उपदिष्ट मत करो । ऐसा करने पर मैं प्रभावशालिनी न रह सकूँगी ॥ ३६ ॥

**यमेवैष विद्याच्छुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।**

**अस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक् परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम् ॥ ३७ ॥**

जिसे पवित्र, अभिमानशून्य, सावधान, मेधावी एवं ब्रह्मचारी समझे, ऐसे समीप में आये हुए उस जिज्ञासु की भली-भाँति परीक्षा करके इस आत्मतत्त्व बोधिका वैष्णवी विद्या का उपदेश करना चाहिए ॥ ३७ ॥

**अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विग्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।**

**यथैव तेन न गुरुर्भोजनीयस्तथैव चान्नं न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥ ३८ ॥**

शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी जो (पुरुष) मन, वाणी तथा कर्म से अपने गुरुजनों का आदर नहीं करते, ऐसे लोगों के अन्न को कल्याण की इच्छा रखने वाले ग्रहण नहीं करते तथा गुरु भी उसके अन्न को स्वीकार नहीं करते । ठीक वैसे ही यति भी उस कृतप्रेरण के घर का अन्न ग्रहण न करे, ऐसा श्रुति का कथन है ॥

**गुरुरेव परो धर्मो गुरुरेव परा गतिः । एकाक्षरप्रदातारां यो गुरुं नाभिनन्दति । तस्य श्रुतं तपो ज्ञानं स्ववत्यामधटाम्बुवत् ॥ ३९ ॥**

गुरु ही परम धर्म है, गुरु ही परम गति है । ज्ञान प्रदाता गुरु को जो पुरुष आद्रित नहीं करता अर्थात् उनका सम्मान हीं करता, उस पुरुष का पढ़ा हुआ (उसकी शिक्षा), उसकी तपस्या, उसका ज्ञान धीरे-धीरे उसी प्रकार क्षीण होकर समाप्त हो जाता है, जिस प्रकार कच्चे घड़े से जल ॥ ३९ ॥

**यस्य देवे परा भक्तिर्था देवे तथा गुरौ । स ब्रह्मवित्यरं प्रेयादिति वेदानुशासनम् इत्युपनिषत् ॥**

जिस पुरुष की देवताओं में परम भक्ति होती है एवं जैसे देवताओं में वैसे ही गुरु में भी उसकी परम भक्ति होती है । ऐसा (पुरुष) ब्रह्मज्ञानी परम पद की प्राप्ति करता है, ऐसा वेदानुशासन है, वेद की आज्ञा (आदेश) है । इस प्रकार यह उपनिषद् (विद्या) पूर्ण हुई ॥ ४० ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥

**॥ इति शाट्यायनीयोपनिषत्समाप्ता ॥**



## ॥ शाणिडल्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें 'योगविद्या' का समग्र वर्णन महर्षि शाणिडल्य और मुनि अथर्वा के प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय ११ खण्डों वाला विस्तृत है। जिसका शुभारम्भ शाणिडल्य ऋषि के आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय स्वरूप अष्टाङ्गयोग के प्रश्न से हुआ है। महामुनि अथर्वा इसके उत्तर में अष्टांगयोग का विशद वर्णन करते हैं। यम-नियम को दस-दस बताते हुए पातंजलयोग से इसकी विशिष्टता सिद्ध कर देते हैं। नाड़ी शोधन की प्रक्रिया का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं, जिससे प्राण-जय किया जा सके और अनेकानेक सिद्धियों का अधिकारी बना जा सके।

दूसरे अध्याय में ऋषि शाणिडल्य ने महामुनि अथर्वा से ब्रह्म विद्या का रहस्य पूछा है, जिसके उत्तर में महामुनि ने ब्रह्म का सर्वव्यापी स्वरूप, उसकी अनिर्वचनीयता, उसका लोकोत्तर रूप बताते हुए कहा कि 'वह ब्रह्म तुम्हीं हो, उसे ज्ञान के द्वारा जानो'। तीसरे अध्याय में ऋषि शाणिडल्य ने पुनः प्रश्न किया कि जो ब्रह्म एक, अक्षर, निष्क्रिय, शिव, सत्तामात्र एवं आत्म स्वरूप है, उससे जगत् का निर्माण, पोषण एवं संहार किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तर में महामुनि ने ब्रह्म का सकल, निष्कल एवं सकल-निष्कल भेद बताते हुए कहा कि ब्रह्म के सकल-निष्कल रूप से उसके संकल्प मात्र से सृष्टि का प्राकट्य, विकास और विलय होता रहता है। अन्त में ब्रह्म, आत्मा, महेश्वर एवं दत्तात्रेय शब्द का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए आदि देवपुरुष दत्तात्रेय का सतत ध्यान करते रहने की बात कही और यह भी कहा कि इसी ध्यान से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त होकर परम कल्याण (मोक्ष) का अधिकारी बन जाता है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः.....इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद् )

### ॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

शाणिडल्यो ह वा अथर्वाणं पप्रच्छआत्मलाभोपायभूतमष्टाङ्गयोगमनुब्रूहीति । स होवाचाथर्वा यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि । तत्र दश यमाः । तथा नियमाः । आसनान्वष्टौ । त्रयः प्राणायामाः । पञ्च प्रत्याहाराः । तथा धारणा । द्विप्रकारं ध्यानम् । समाधिस्त्वेकरूपः । तत्राहिंसांसत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश । तत्राहिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्लेशजननम् । सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभिर्भूतहितयथार्थाभिभाषणम् । अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहता । ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः । दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः । आर्जवं नाम मनोवाक्कायकर्मणां विहिताविहितेषु जनेषु प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा एकरूपत्वम् । क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडनपूजनेषु सहनम् । धृतिर्नामार्थहानौ स्वेष्टबन्धुवियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतःस्थापनम् । मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषकसुस्त्रिग्राधमधुराहारः । शौचं नाम द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति । तत्र मृजलाभ्यां बाह्यम् । मनःशुद्धिरान्तरम् । तदध्यात्मविद्यया लभ्यम् ॥१॥

महर्षि शाणिडल्य अर्थवा मुनि से पूछते हैं कि 'हे मुने! आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय स्वरूप अष्टाङ्ग योग का वर्णन करने की कृपा करें।' ऐसा सुनकर उन अर्थवा मुनि ने कहा-हे महर्षे! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि-ये ही योग के आठ अंग कहे गये हैं। 'यम' एवं 'नियम' की संख्या दस-दस है, 'आसन' आठ प्रकार के हैं, 'प्राणायाम' की संख्या तीन है, 'प्रत्याहार' एवं 'धारणा' दोनों के पाँच-पाँच भेद हैं, 'ध्यान' दो प्रकार के होते हैं तथा 'समाधि' का एक ही भेद है। इसमें यम के दस भेद इस प्रकार हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, अल्प-आहार ग्रहण करना तथा पवित्रता। अहिंसा का तात्पर्य है—मन, वचन, शरीर एवं अपने कार्य के द्वारा किसी भी प्राणी को कभी भी दुःख न देना। सत्य का अर्थ है कि मन, वचन, शरीर एवं कर्म से जो हितकारी हो, वही वाणीं प्राणियों के समक्ष बोलना। अस्तेय अर्थात् मन, वचन, शरीर एवं अपने कार्य के द्वारा दूसरों के धन-साधनों के प्रति निस्पृह रहना। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है कि सभी अवस्थाओं में मन, वचन, शरीर एवं कर्म के द्वारा सभी तरह के मैथुन (असंयम) का परित्याग करना। दया अर्थात् समस्त प्राणियों पर सदैव अपना अनुग्रह बनाये रखना। आर्जव अर्थात् मन, वचन, शरीर एवं कर्म से लोगों के द्वारा उचित अथवा अनुचित व्यवहार करने अथवा न करने पर भी सम्भाव बनाये रखना। क्षमा का तात्पर्य है—सदैव प्रिय-अप्रिय, पूजा अथवा ताड़ना आदि का बर्ताव किया जाए, तब भी उसे 'सहन करना। धैर्य अर्थात् धन हानि हो, अपने इष्ट-मित्रों का वियोग अथवा संयोग हो, हर स्थिति में चित्त को स्थिर रखना। अल्पाहार अर्थात् पेट में चौथा भाग खाली रहे, इस प्रकार अपने आहार में श्रेष्ठ घी, दुग्ध वाले मधुर पदार्थों का समावेश रखना। शौच का तात्पर्य है—बाह्य एवं अन्तः दोनों प्रकार की शुद्धि रखना। मिट्टी तथा जल के द्वारा बाहर की पवित्रता होती है तथा मन की शुद्धि आन्तरिक है जो अध्यात्म विद्या से होती है॥ १॥

## ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

तपःसन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणहीमतिजपव्रतानि दश नियमाः। तत्र तपो नाम विध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणम्। संतोषो नाम यदृच्छालाभसंतुष्टिः। आस्तिक्यं नाम वेदोक्तधर्माधर्मेषु विश्वासः। दानं नाम न्यायार्जितस्य धनधान्यादेः श्रद्धयार्थिभ्यः प्रदानम्। ईश्वरपूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथाशक्ति विष्णुरुद्रादिपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं नाम वेदान्तार्थविचारः। हीर्नाम वेदलौकिकमार्गकुत्सितकर्मणि लज्जा। मतिर्नाम वेदविहितकर्ममार्गेषु श्रद्धा। जपो नाम विधि वदूरुपदिष्टवेदाविरुद्धमन्त्राभ्यासः। तदिद्विविधं वाचिकं मानसं चेति। मानसं तु मनसा ध्यानयुक्तम्। वाचिकं द्विविधमुच्चैरुपांशुभेदेन। उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम्। उपांशु सहस्रगुणम्। मानसं कोटिगुणम्। व्रतं नाम वेदोक्तविधिनिषेधानुष्टाननैयत्यम्॥ १॥

तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ही (लज्जा), मति, जप तथा व्रत-ये दस प्रकार के भेद 'नियम' के कहे गये हैं। इसमें तप का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक कृच्छ्र चान्द्रायण आदि से शरीर को सुखाना। संतोष अर्थात् दैव की इच्छा से जो भी कुछ प्राप्त हो जाए, उस पर संतोष रखना। आस्तिक्य का भाव यह है कि वेद द्वारा कहे हुए धर्म और अधर्म में विश्वास रखना। नीति पूर्वक प्राप्त हुए धन-धान्य आदि को श्रद्धापूर्वक गरीबों को देना ही दान कहा जाता है। ईश्वर-पूजन प्रसन्न स्वभाव से यथोचित मात्रा में विष्णु, रुद्र आदि का पूजन-अर्चन करना। सिद्धान्त श्रवण अर्थात् वेदान्त के अर्थ का चिन्तन करना। ही अर्थात् वेद मार्ग में तथा लोकमार्ग में नीच माने जाने वाले कृत्य के करने में लज्जा का अनुभव होना। मति अर्थात्

वेदोक्त कर्म में श्रद्धा का उत्पन्न होना। जप का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक गुरु ने जिस वैदिक मन्त्र का उपदेश दिया है, उसका अभ्यास करना। जप का अभ्यास दो तरह से होता है- वाचिक और मानसिक। मानसिक- जप मन के द्वारा ध्यान युक्त होने से होता है तथा वाचिक दो प्रकार से होता है- १. उच्चारण पूर्वक से तथा २. उपांशु (फुसफुसाहट) रूप में उच्चारण पूर्वक जप का यथोक्त फल होता है। उपांशु का उससे सहस्रगुना फल प्राप्त होता है तथा मानसिक जप करने का फल तो करोड़ गुना मिलता है। ब्रत का तात्पर्य वेद के द्वारा कहे हुए विधि-निषेध का नियमित आचरण करना है ॥ १ ॥

## ॥ तृतीयः खण्डः ॥

स्वस्तिकगोमुखपद्मवीरसिंहभद्रमुक्तमयूराख्यान्यासनान्यष्टौ । स्वस्तिकं नाम जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे । ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १ ॥

स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त तथा मयूर नाम वाले ये आठ प्रकार के आसन कहे गये हैं- इस (स्वस्तिक आसन) में पैर के दोनों तलवों को दोनों जानुओं (घुटनों) के बीच में बराबर रखकर सीधा तनकर बैठना पड़ता है। इस क्रिया को ही स्वस्तिकासन कहा जाता है ॥ १ ॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् । दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥२

पीठ के बायीं ओर दाहिना गुल्फ एवं दायीं तरफ बायाँ गुल्फ (टखना) जोड़कर गोमुख के सदृश बैठना ही गोमुखासन है ॥ २ ॥

अङ्गुष्ठेन निबध्नीयाद्वस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च ।

ऊर्वोरुपरि शाणिडल्य कृत्वा पादतले उभे ।

पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम् ॥३ ॥

हे शाणिडल्य ! दोनों जंघाओं के ऊपर दोनों पैरों के तलवों को रखकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठों को उल्टी रीति से पकड़कर रखना ही सर्वमान्य पद्मासन कहलाता है ॥ ३ ॥

एकं पादमथैकस्मिन्वन्यस्योरुणि संस्थितः । इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरितम् ॥ ४ ॥

एक जाँघ को एक पैर से तथा दूसरी जाँघ को दूसरे पैर से जोड़कर बैठने को वीरासन कहते हैं ॥ ४ ॥  
दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम् । हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च ॥५ ॥  
व्यातवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः । सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिभिः सदा ॥ ६ ॥

दाहिने टखने के साथ बायाँ टखना तथा बायें टखने के साथ दायें टखने को लगाकर बैठ जाना और दोनों हाथों को दोनों जानुओं (घुटनों) पर रखकर अँगुलियों को फैलाकर रखना चाहिए। तत्पश्चात् ठीक तरह से एकाग्र होकर मुँह फैलाकर ग्राणेन्द्रिय के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करनी चाहिए। इसको ही सिंहासन कहते हैं और योगीजन सदैव इस आसन की प्रशंसा करते हैं ॥ ५-६ ॥

योनिं वामेन संपीड्य मेद्रादुपरि दक्षिणम् । भ्रूमध्ये च मनोलक्ष्यं सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ ७ ॥

गुदा क्षेत्र को बायें पैर से दबाकर दायें पैर को लिङ्ग के ऊपर स्थिर करना; तत्पश्चात् भौंहों के बीच में लक्ष्य स्थिर करना ही सिद्धासन कहा जाता है ॥ ७ ॥

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् । पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढं बद्धा सुनिश्चलम् । भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ॥ ८ ॥

लिङ्ग के नीचे की ओर सीवनी प्रदेश में दोनों टखनों को स्थिर करने तथा हाथों से पैरों के दोनों पार्श्वों को मजबूती से पकड़कर निश्चलतापूर्वक बैठना ही भद्रासन कहलाता है, जो सभी तरह के रोग एवं विष आदि को विनष्ट करने वाला है ॥ ८ ॥

**संपीड्य सीविनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः । सव्यं दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम् ॥ ९ ॥**

सूक्ष्म सीवनी प्रदेश को बायें टखने के द्वारा दबा करके दाहिने गुल्फ (टखने) से बायें टखने को दबा करके (बैठना) ही मुक्तासन कहलाता है ॥ ९ ॥

**अवष्ट्रभ्य धरां सम्यकृतलाभ्यां तु करद्वयोः । हस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयेन्नाभिपार्श्वयोः ॥ १० ॥**  
**समुन्नतशिरः पादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः । मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ११ ॥**

दोनों हाथ की हथेलियों को भूमि से सटाकर स्थिर करना और हाथ की कोहनियों से नाभि के दोनों ओर दबा करके बैठना चाहिए। तदनन्तर मस्तक और पैरों को ऊर्ध्व की ओर उठाकर लकड़ी की तरह से आकाश में अधर स्थिर रखना ही मयूरासन कहलाता है। यह आसन सभी तरह के पापों का विनाश करने वाला है ॥

**शरीरान्तर्गताः सर्वे रोगा विनश्यन्ति । विषाणि जीर्यन्ते ॥ १२ ॥**

इन आसनों के करने से शरीर के अन्दर विद्यमान रहने वाले सभी तरह के रोग विनष्ट हो जाते हैं तथा सभी प्रकार के विष स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं ॥ १२ ॥

**येन केनासनेन सुखधारणं भवत्यशक्तस्तत्समाचरेत् ॥ १३ ॥**

जो (मनुष्य) अशक्त हो, उसे जिस किसी आसन से सुख मिले, वही आसन करना चाहिए ॥ १३ ॥

**येनासनं विजितं जगत्त्रयं तेन विजितं भवति ॥ १४ ॥**

जिसने इन सभी आसनों को जीत लिया है, उसने तीनों लोक जीत लिये हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ १४ ॥

**यमनियमासनाभ्यासयुक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत् । तेन नाड्यः शुद्धा भवन्ति ॥ १५ ॥**

यम, नियम एवं आसन से पूर्णरूपेण सम्पन्न होने के पश्चात् मनुष्य को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से नाड़ियों की शुद्धि हो जाती है ॥ १५ ॥ ॥ ॥

### ॥ चतुर्थः खण्डः ॥

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ केनोपायेन नाड्यः शुद्धाः स्युः । नाड्यः कतिसंख्याकाः । तासामुत्पत्तिः कीदृशी । तासु कति वायवस्तिष्ठन्ति । तेषां कानि स्थानानि । तत्कर्माणि कानि । देहे यानि यानि विज्ञातव्यानि तत्सर्वं मे ब्रूहीति ॥ १ ॥

तत्पश्चात् महात्मा शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि से पूछा-किस उपाय से नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं ? नाड़ियों की संख्या कितनी होती है ? उनकी उत्पत्ति किस तरह से हुई ? उसमें कितने प्रकार के वायु रहते हैं ? उनका स्थान कौन सा है ? उनके कार्य क्या-क्या होते हैं ? इस शरीर में जो भी कुछ जानने के लिए आवश्यक है, वह सभी कुछ आप मुझे बताने की कृपा करें ॥ १ ॥

**स होवाचाथर्वा । अथेदं शरीरं षण्णवत्यङ्गलात्मकं भवति । शरीरात्प्राणो द्वादशाङ्गलाधिको भवति ॥ २ ॥**  
**शरीरस्थं प्राणमग्निना सह योगाभ्यासेन समं न्यूनं वा यः करोति स योगिपुङ्गवो भवति ॥ ३ ॥**

तदनन्तर उन अथर्वा ऋषि ने कहा कि यह शरीर छियानबे (१६) अंगुल का प्रमाण स्वरूप है। यह

प्राण-शरीर की अपेक्षा बारह अंगुल और अधिक होता है। इस शरीर में उपस्थित रहने वाले प्राण को योग के अभ्यास द्वारा जो भी मनुष्य अग्नि के साथ सम अवस्था में स्थिर करता है या फिर उससे भी कम करता है, वह श्रेष्ठ योगी कहलाता है ॥ २-३ ॥

**देहमध्ये शिखिस्थानं त्रिकोणं तसजाम्बूनदप्रभं मनुष्याणाम् । चतुष्पदां चतुरश्रम् । विहङ्गानां वृत्ताकारम् । तन्मध्ये शुभा तन्वी पावकी शिखा तिष्ठति ॥ ४ ॥**

मनुष्यों की देह में अग्नि का स्थान त्रिकोण की भाँति तस्स्वर्ण के सदृश प्रकाश युक्त होता है। चौपायों का आयताकार तथा पक्षियों का गोलाकार होता है। इस अग्नि स्थान में क्षीणकाय, शुभ अग्निशिखा रहती है ॥ ४ ॥

**गुदादद्वयङ्गुलादूर्ध्वं मेद्वादद्वयङ्गुलादधो देहमध्यं मनुष्याणां भवति । चतुष्पदां हन्मध्यम् । विहगानां तुन्दमध्यम् । देहमध्यं नवाङ्गुलं चतुरङ्गुलमुत्सेधायतमण्डाकृति ॥ ५ ॥**

गुदामार्ग से दो अङ्गुल ऊर्ध्व की ओर तथा लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे की ओर मनुष्य के शरीर का मध्यस्थल होता है। चौपायों के हृदय का मध्य एवं पक्षियों के पेट का मध्य ही उनके शरीरों के बीच का मध्य स्थल होता है। शरीर का वह बीच का भाग नौ अंगुल ऊँचा तथा चार अंगुल विस्तार वाला होता है। उसकी आकृति अण्डे के सदृश होती है ॥ ५ ॥

**तन्मध्ये नाभिः । तत्र द्वादशारयुतं चक्रम् । तच्चक्रमध्ये पुण्यपापप्रचोदितो जीवोभ्रमति ॥ ६ ॥**  
तन्तुपञ्जरमध्यस्थलूतिका यथा भ्रमति तथा चासौ तत्र प्राणश्वरति । देहेऽस्मिञ्चीवः प्राणारूढो भवेत् ॥ ७ ॥

उसके मध्य में नाभि है तथा उसमें बारह अरों से युक्त चक्र स्थित है। उस चक्र के मध्य में पुण्य-पाप से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ जीव यत्र-तत्र भ्रमण करता रहता है। जिस प्रकार से मकड़ी अपने द्वारा निर्मित तन्तु (जाल) के अन्दर भ्रमण करती रहती है, उसी तरह से यह जीव भी वर्णों पर विचरण करता रहता है। इस देह में जीव प्राण के ऊपर सतत आरूढ़ रहता है ॥ ६-७ ॥

**नाभेस्तिर्यग्थ ऊर्ध्वं कुण्डलिनीस्थानम् । अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति । यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि परितः स्कन्धपार्श्वेषु निरुद्धैनं मुखेनैव समावेष्य ब्रह्मरन्ध्रं योगकाले चापानेनाग्निना च स्फुरति । हृदयाकाशे महोज्ज्वला ज्ञानरूपा भवति ॥ ८ ॥**

नाभि के समीप नीचे एवं ऊपर की ओर कुण्डलिनी का क्षेत्र स्थित है। कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकार की प्रकृति से युक्त एवं आठ कुण्डली (घुमाव) बनाये हुए हैं। यह शक्ति योग की अवस्था में वायु के संचार को यथावत् करके जल एवं अन्न आदि को चारों ओर से कन्धों के पार्श्व में स्थिर करके पुनः मुख से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक अपान तथा अग्नि के द्वारा जाग्रत् होती है। यह स्फुरणयुक्ता शक्ति हृदयाकाश में महान् उज्ज्वल एवं ज्ञानरूपा होती है ॥ ८ ॥

**मध्यस्थकुण्डलिनीमाश्रित्य मुख्या नाड्यश्वतुर्दश भवन्ति । इडा पिङ्गला सुषुम्ना सरस्वती वारुणी पूषा हस्तजिह्वा यशस्विनी विश्वोदरी कुहूः शङ्खिनी पयस्विनी अलम्बुसा गान्धारीति नाड्यश्वतुर्दश भवन्ति ॥ ९ ॥**

कुण्डलिनी का आश्रय प्राप्त करके मध्य में स्थित रहने वाली चौदह मुख्य नाडियाँ हैं। ये क्रमशः इडा,

पिंगला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरी, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलंबुसा एवं गान्धारी नामवाली हैं ॥ ९ ॥

**तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते । गुदस्य पृष्ठभागे वीणादण्डाश्रिता मूर्धपर्यन्तं ब्रह्मरन्थे विज्ञेया व्यक्ता सूक्ष्मा वैष्णवी भवति ॥ १० ॥**

इन समस्त नाड़ियों में सुषुम्ना नाड़ी विश्व को धारण करने में समर्थ तथा मोक्षमार्ग को प्रदान करने वाली है, ऐसा योगीजन कहते हैं। गुदा के पृष्ठ भाग में वह नाड़ी मेरुदण्ड के आश्रित रहती है तथा मस्तक में ब्रह्मरन्थ तक पहुँचती है। यह स्पष्ट, सूक्ष्म एवं वैष्णवी रूपा होती है ॥ १० ॥

**सुषुम्नायाः सव्यभागे इडा तिष्ठति । दक्षिणभागे पिङ्गला । इडायां चन्द्रश्वरति । पिङ्गलायां रविः । तमोरूपश्वन्दः । रजोरूपो रविः । विषभागो रविः । अमृतभागश्वन्दमाः । तावेव सर्वकालं धत्तः । सुषुम्ना कालभोक्त्री भवति । सुषुम्नापृष्ठपार्श्वयोः सरस्वतीकुहू भवतः । यशस्विनी-कुहूमध्ये वारुणी प्रतिष्ठिता भवति । पूषासरस्वतीमध्ये पयस्विनी भवति । गान्धारीसरस्वतीमध्ये यशस्विनी भवति । कन्दमध्ये अलम्बुसा भवति । सुषुम्नापूर्वभागे मेद्रान्तं कुहूर्भवति । कुण्ड-लिन्या अधश्वोर्ध्वं वारुणी सर्वगामिनी भवति । यशस्विनी सौम्या च पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते । पिङ्गला चोर्ध्वंगा याम्यनासान्तं भवति । पिङ्गलायाः पृष्ठतो याम्यनेत्रान्तं पूषा भवति । याम्यक-र्णान्तं यशस्विनी भवति । जिह्वाया ऊर्ध्वान्तं सरस्वती भवति । आसव्यकर्णान्तमूर्ध्वंगा शङ्खिनी भवति । इडापृष्ठभागात्सव्यनेत्रान्तगा गान्धारी भवति । पायुमूलादधोर्ध्वंगा अलम्बुसा भवति । एतासु चतुर्दशसु नाडीष्वन्या नाड्यः संभवन्ति । तास्वन्यास्तास्वन्या भवन्तीति विज्ञेयाः । यथा श्वस्त्थादिपत्रं सिराभिव्यासमेवं शरीरं नाडीभिव्यासम् ॥ ११ ॥**

इस सुषुम्ना नाड़ी के बायों ओर इडा नामक नाड़ी है तथा दायों ओर पिंगला नाड़ी स्थित है। इडा में चन्द्रमा चलायमान रहता है और पिंगला में सूर्य विचरण करता है। चन्द्रमा तमोगुण के स्वरूप वाला एवं सूर्य रजोगुण के स्वरूप से युक्त है। चन्द्रमा अमृत का क्षेत्र है तथा सूर्य विष का प्रभाग है। ये दोनों सम्पूर्ण काल को धारण करते हैं। सुषुम्ना नाड़ी काल का उपभोग करने वाली है। सुषुम्ना के पृष्ठ भाग की तरफ सरस्वती नाड़ी विद्यमान है तथा उसके बगल के क्षेत्र में कुहू नाड़ी स्थित है। यशस्विनी एवं कुहू के मध्य में वारुणी नाड़ी प्रतिष्ठित है। पूषा और सरस्वती के मध्य में पयस्विनी नाड़ी स्थित है। गान्धारी और सरस्वती के मध्य में यशस्विनी नाड़ी विद्यमान है। कन्द के बीच में अलम्बुसा नाड़ी है। सुषुम्ना नाड़ी के पूर्व भाग में लिंग क्षेत्र तक कुहू नाड़ी फैली हुई है। कुण्डलिनी के नीचे एवं ऊपर की ओर वारुणी नाड़ी चारों तरफ गयी हुई है। यशस्विनी और सौम्या पैर के अँगूठे तक फैली हुई है। पिङ्गला नाड़ी ऊपर की तरफ चलकर के दायों नासिका तक पहुँचती है। पिंगला के पृष्ठ भाग की तरफ से दायीं आँख तक पूषा नाड़ी फैली हुई है। दायें कान तक यशस्विनी स्थित है। जिह्वा के ऊपरी भाग तक सरस्वती नाड़ी प्रतिष्ठित है। बायें कान तक ऊपर की ओर गमन करती हुई शंखिनी नाड़ी स्थित है। इडा नाड़ी के पृष्ठ भाग की ओर से बायें नेत्र तक गमन करने वाली गांधारी नाड़ी कहलाती है। गुदा क्षेत्र के मूल से नीचे-ऊपर की ओर जाने वाली अलम्बुसा नाड़ी कहलाती है। इन चौदह प्रकार की नाड़ियों में अन्य और दूसरी नाड़ियाँ भी स्थित हैं। उन नाड़ियों के अन्दर भी अन्य इस प्रकार की बहुत सी नाड़ियाँ हैं। जिस प्रकार से पीपल आदि के पत्ते शिराओं (केशों) से संव्यास होते हैं, उसी तरह शरीर भी तरह-तरह की नाड़ियों से संव्यास है ॥ ११ ॥